हिंदी कविता में अस्मितामूलक चिंतन के संदर्भ में वस्तु और रूप का अन्तरसंबंध

(प्रमुख कवियों के संदर्भ में)

(सन 1990 से 2010 तक)

Inter-relation between content and form in the context of identity based discourse in the Hindi poetry

(With Special Reference of Major Poets)

(1990 to 2010)

पीएच.डी. (हिंदी) उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबंध

शोध निर्देशक

प्रो. गोबिंद प्रसाद

शोधकर्ता

शहज़ाद आलम

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नयी दिल्ली – 110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 21-07-2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. Thesis entitled "*Hindi kavita mein Asmitamulak chintan ke sandarbh mein vastu aur roop ka antarsambandh (Pramukh Kaviyon ke Sandarbh Mein 1990 to 2010)*" "Inter-relation between content and form in the context of identity based discourse in the Hindi poetry (With Special Reference of Major Poets) (1990 to 2010)" by me is the original research work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

21-07-17

SHAHJAD ALAM
(Research Scholar)

21.7.17

Prof. GOBIND PRASAD
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

21.7.17

Prof. GOBIND PRASAD
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

अम्मी और
पापा को

अनुक्रम

भूमिका 1-15

अध्याय 1. अस्मिता की अवधारणा 17-43

अस्मिता का अर्थ एवं आशय

अस्मिता का समकालीन परिदृश्य

अध्याय 2. अस्मिता के साहित्येतर आयाम 45-76

भारतीय इतिहास में अस्मिता का सवाल

मिथक और अस्मिता के अंतरसंबंध और पुनर्व्याख्या

अस्मिता और राष्ट्र

अस्मिता, धर्म और जाति

अस्मिता और राजनीति

अस्मिता और समाज

अध्याय 3. अस्मितामूलक चिंतन और प्रमुख कवियों की काव्यदृष्टि 77-125

दलित काव्यदृष्टि की निर्मिति

स्त्रीवादी काव्यदृष्टि की निर्मिति

आदिवासी काव्यदृष्टि की निर्मिति

अध्याय 4. अस्मिता और काव्यवस्तु का अंतरसंबंध 126-166

स्त्री अस्मिता और काव्यवस्तु : पितृसत्ता

दलित अस्मिता और काव्यवस्तु : जाति-वर्ण व्यवस्था

आदिवासी अस्मिता और काव्यवस्तु : साम्राज्यवादी हस्तक्षेप

अध्याय 5. अस्मिता के सन्दर्भ में काव्यवस्तु और रूप का अंतरसंबंध 167-226

अस्मिता : काव्यवस्तु और भाषा

अस्मिता : काव्यवस्तु और प्रतीक, बिम्ब एवं मिथक

निष्कर्ष 227-241

संदर्भ सूची 243-256

भूमिका

यह शोध हिन्दी कविता में अस्मितामूलक चिंतन पर है, जिसमें हिन्दी कविता में उदारीकरण के बाद हुए बदलावों को रेखांकित किया गया है। बीस सालों में हिन्दी कविता को अस्मितावादी लेखन ने किस तरह से बदला है और कविता के वस्तु-रूप का अंतरसंबंध क्या रहा है, यह अध्ययन अपने अलग-अलग अध्यायों और उप-अध्यायों के जरिए इसका विश्लेषण प्रस्तुत करता है। हिंदी साहित्य में विभिन्न अस्मिताओं की अभिव्यक्ति की उपेक्षा रही है, स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक के विषय-वस्तु हाशिए पर रहे। यदि वे रहे भी हैं तो उनके स्वरूप और विषय-वस्तु बेहद भिन्न रहे हैं। अन्य अस्मिताओं को भी साहित्य में वह जगह नहीं मिली है जिसके वे हकदार हैं। यही कारण रहे हैं कि इन अस्मिताओं से जुड़े लेखकों को एक मुहिम के तौर पर हिंदी साहित्य में हस्तक्षेप करना पड़ा। इसी के साथ अस्मिताओं के संघर्ष और लेखन दोनों एक दूसरे के पूरक बने और आगे बढ़े। वे अपनी पहचान बनाने के लिए साहित्यिक विधाओं के शिल्प, वस्तु, रूप आदि से जूझते हुए आगे आए, जिससे हिंदी साहित्य में अस्मितामूलक चिंतन उभर कर सामने आया।

हालाँकि अस्मितामूलक चिंतन हिंदी साहित्य में अस्सी के दशक के बाद तेजी से उभरा परंतु अपनी ऐतिहासिक विकास की यात्रा में सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्तर पर ये अस्मिताएं अपने अस्तित्व की लड़ाई लगातार लड़ती रही हैं। जहां सामाजिक स्तर पर यह खुद को अपने संघर्षों के

द्वारा अभिव्यक्त करती रही हैं वहीं लिखित माध्यम के तौर पर अब यह साहित्यिक स्तर पर भी खुद को न केवल अभिव्यक्त कर रही हैं बल्कि अपनी अस्मिता, अपनी पहचान की लड़ाई लड़ रही हैं। इन अस्मिताओं से मिलकर बनने वाला समाज ही भारत का मेहनतकश समाज है, जिसने भारतीय सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

अब हिंदी साहित्य में भी इन अस्मिताओं के बहाने मेहनतकश जनता के संघर्ष अभिव्यक्ति पा रहे हैं, जिससे साहित्य की पुरानी मान्यताओं को काफी हद तक पुनर्व्याख्यायित होने की आवश्यकता पड़ रही है। साहित्य जगत में नए-नए सवाल खड़े हो रहे हैं। हिंदी साहित्य के कुछ आलोचकों ने तो इन्हें साहित्य की संज्ञा देने से भी इन्कार कर दिया और इनका विरोध किया। परंतु अस्मितामूलक चिंतन और भी तीखे रूप में उभर कर सामने आए हैं।

इन अस्मिताओं को खारिज करना असंभव है। ये चिंतन अपनी ऐतिहासिक विकास की यात्रा के दौरान उभर कर सामने आए हैं। यह राष्ट्र, समाज, धर्म, राजनीति के द्वारा लगातार की जाने वाली उपेक्षा के कारण अपने अस्तित्व को बचाने की लड़ाई का परिणाम हैं। यह अपने अस्तित्व को दर्ज कराने, उसे बचाने की लड़ाई का परिणाम हैं। इसलिए इन्हें नकारा नहीं जा सकता।

साहित्य में यह अस्मितामूलक चिंतन अपनी जगह बनाते हुए कथ्य और शिल्प के नए मानदंड बना रहे हैं। अस्मिता से जुड़े कई प्रकार के सवाल सामने आ रहे हैं जैसे जब अपनी अस्मिता या पहचान

की बात आती है तो इस पहचान की प्रक्रिया में दूसरों से अलग होना पड़ता है। जिससे विभिन्न अस्मिताओं के भी आपस में संघर्ष दिखाई पड़ते हैं, इसलिए इन अस्मिताओं में भी कई प्रकार की टकराहट बनती है। सामाजिक अस्मिता, राष्ट्रीय अस्मिता और जातीय अस्मिता इन सब में भी अपनी पहचान के संघर्ष के दौरान टकराहट देखने को मिलती है। जब कोई अपनी पहचान की लड़ाई लड़ता है तो उसमें अन्य से भिन्न होने के भाव का समावेश होता है। क्योंकि बिना अलग हुए अपनी अस्मिता की लड़ाई संभव नहीं है।

साहित्य के स्तर पर जब यह लड़ाई उभर कर सामने आती है तो वह अपने भोगे हुए यथार्थ, अपने परिवेश, अपने बोध निर्माण और अपनी ज्ञान मीमांसा से जुड़ी होती है। उसमें उनके समाज का पूरा दायरा जगह पाता है, जिसे साहित्य में अभी तक बहुत कम या भिन्न नजरिए से अभिव्यक्ति किया जाता रहा है।

इन अस्मितामूलक विमर्शों और उनके द्वारा रचित साहित्यों की कई तरह से आलोचनाएं भी होती रही हैं। इन पर सवाल खड़े किए जाते रहे हैं कि यह साहित्य की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इनमें साहित्यिकता का अभाव है। जो साहित्य के मानदंड हैं, अस्मितावादी लेखन उनमें समाहित नहीं होते हैं। इनमें सौंदर्यबोध नहीं है। इनकी रचनाएं चाहे किसी भी विधा में लिखी गई हों वे औसत दर्जे की हैं, उनमें परंपरागत साहित्य के शास्त्रीय मानदंडों का पालन नहीं किया गया है। कई आलोचकों का मानना

है कि यह अखबार की रिपोर्ट के रूप में तो जगह पा सकती हैं, साहित्य में नहीं। इस तरह की और भी बहुत सी दलीलें और आलोचनाएं हैं जो अस्मिता आधारित साहित्य लेखन पर सवाल खड़े करती हैं पर अस्मितावादी साहित्य का संघर्ष भी यही है कि वह अपने साहित्य और साहित्यिक विश्लेषणों के जरिए इनका पुख़्ता जवाब दे और वह इसके जवाब लगातार अपनी रचना और अपने जीवन से उपजे संघर्ष के जरिए दे भी रहा है।

इन आलोचनाओं को लेकर भी वह सवाल खड़ा कर रहा है कि क्या हिंदी आलोचना के परंपरागत प्रतिमान अस्मितावादी लेखन को समझने और विश्लेषित करने के लिए पर्याप्त हैं। अस्मितामूलक विमर्श अपने नए तरह के मापदंड गढ़ रहे हैं। अपने लिए नए मुहावरे बना रहे हैं। नई शैली और शिल्प लेकर आ रहे हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि अस्मितामूलक चिंतन ने साहित्यकारों, आलोचकों के सामने नई चुनौतियां प्रस्तुत की हैं। उन्होंने साहित्य के परंपरागत प्रतिमानों के खिलाफ अपने नए प्रतिमान स्थापित किए हैं जिन पर लगातार वाद-विवाद बना रहता है और 'साहित्यिकता' या 'कलात्मकता' की कसौटी पर लगातार उनकी नई परख और नए विश्लेषण होते रहते हैं।

अस्मितामूलक चिंतन में वस्तु और रूप के संबंध में पुरानी चली आ रही बहस के आधार पर स्वयं को नए दृष्टिकोण से देखने का आग्रह भी है। वस्तु और रूप के अन्तरसंबंधों के संदर्भ में यदि

अस्मितामूलक चिंतन को देखा जाए तो यहां हमें एक नए प्रकार का आग्रह दिखाई पड़ता है। इन विमर्शों को और इनके साहित्य को यदि हम वस्तु और रूप के आधार पर देखने की कोशिश करते हैं तो हम पाते हैं कि इनकी साहित्यिक वस्तु ने इनकी रचनाओं के रूप को अधिक प्रभावित किया है, यहां वस्तु के अनुसार रूप तय होता दिखाई देता है। उसी के अनुसार भाषा और शिल्प यानी रूप पक्ष बनता है। परंतु संपूर्ण तौर पर देखने पर यह संबंध थोड़ा जटिल जान पड़ता है जैसे कि हमने पहले ही बात की कि अलग-अलग अस्मितामूलक विमर्श के साहित्य ने अलग-अलग विधा का चुनाव किया जबकि सबकी लड़ाई अपनी अस्मिता की लड़ाई ही है। अध्ययन में हम देखते हैं कि अस्मितामूलक साहित्य में रूप की अपेक्षा वस्तु पक्ष ज्यादा मजबूत रूप में उभर कर सामने आता है। इसलिए इनके रूप पक्ष की आलोचना भी होती रही है।

मौजूदा समय में हिंदी साहित्य में अस्मितामूलक चिंतन ने अपनी एक अलग जगह बनाई है। तत्कालीन समय में यह अपने उभार पर है। अध्ययन में हम पाते हैं कि विभिन्न अस्मिताएं खुद को साहित्य की किसी न किसी विधा में अभिव्यक्त कर रही हैं। अब जब साहित्य में इन्होंने अपनी एक विशिष्ट पहचान बना ली है तो एक शोधार्थी होने के नाते इसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करने की अनेक संभावनाएं मुझे दिखाई दीं। इनसे जुड़े कई प्रकार के प्रश्न मेरे सामने थे जिन्हें विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने की आवश्यकता मुझे लगी। आखिरकार ऐसे क्या कारण हैं कि लगभग एक ही समय में विभिन्न

अस्मिताएं उभर कर सामने आ रही हैं? ऐसे क्या कारण हैं कि सभी अस्मिताएं सामाजिक, सांस्कृतिक धरातल के साथ-साथ साहित्यिक धरातल पर भी अपनी लड़ाई लड़ रही हैं? और यदि इन्हें कविता के क्षेत्र में देखने का प्रयास करें तो यह गौर करने वाली बात है कि विभिन्न अस्मिताएं अपने को इस काव्य विधा में किस प्रकार अभिव्यक्त करती हैं। इनमें किस प्रकार की समानताएं व असमानताएं हैं? साथ ही मैं इन अस्मितामूलक चिंतन से जुड़ी प्रारंभिक स्थिति से लेकर वर्तमान स्थिति पर विचार करने के साथ-साथ काव्यवस्तु और रूप के संदर्भ में भी इन अस्मिताओं को देखना चाहता हूँ। यदि हम इन्हें काव्यवस्तु और रूप के अन्तरसंबंध के आधार पर देखते हैं तो इन सभी अस्मिताओं में क्या-क्या समानताएं और असमानताएं देखने को मिलती हैं? इनमें आपस में कोई संबंध हैं या नहीं?

इन सभी सवालों के प्रति एक जिज्ञासा के कारण मैंने इस शोध के विषय का चुनाव किया। इन सब सवालों के जवाब ढूँढ़ने के रूप में ही यह अध्ययन सामने आ पाया, जिसकी प्रक्रिया के दौरान इस विषय पर मेरी व्यक्तिगत समझ भी समृद्ध हुई है।

वस्तु और रूप एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस पर विभिन्न विचारकों ने अलग-अलग समय पर अपने तर्क दिए हैं और तथ्य को सिद्ध करने का प्रयास किया है। लेकिन इन दोनों पक्षों में कौन ज्यादा महत्वपूर्ण है, इस पर अलग-अलग विचारक अलग-अलग मत रखते हैं। रूपवादी केवल रूप को निर्धारक मानते हैं तो समाजवादी वस्तु को निर्धारक मानते हैं। मार्क्सवादियों का मानना है कि वस्तु और

रूप का द्वंद्वात्मक संबंध होता है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। 1990 के दशक के बाद हिंदी कविता में अस्मितामूलक चिंतन सामने आया। इन कविताओं की संवेदना यानी वस्तु एकदम अलग थी। इसलिए इन कविताओं ने अपने अलग मापदंड गढ़े, जिन्हें समय-समय पर नकारा भी जाता रहा। इसके बावजूद उन्होंने खुद को साबित किया। इस बदली हुई वस्तु ने रूप को भी प्रभावित किया। उसने अपने लिए नए बिंब रचे, अपने काव्य में नए शब्दों को जगह दी, नए मिथक गढ़े ताकि वह अपनी संवेदना को अभिव्यक्त कर पाए। यह शोध प्रबंध वस्तु और रूप के इन्हीं अंतरसंबंधों को समझने की कोशिश का ही परिणाम है।

इस शोध प्रक्रिया के दौरान मेरी दृष्टि अस्मिता से जुड़े कवियों की अपेक्षा उनकी वैचारिकी को समझने में ज्यादा रही है। इसमें अस्मिता के चिंतन का आधार ग्रहण कर उनकी कविता में वस्तु और रूप के अंतरसंबंध को समझने का प्रयास किया गया है। इस शोध प्रबंध में जिन कवियों की चर्चा की गई है वह इसी वस्तु और रूप के अंतरसंबंध को ध्यान में रख कर की गई है। यह इस शोध विषय की सीमा है कि इसमें अस्मितामूलक चिंतन से जुड़े सभी कवियों की सम्पूर्ण समालोचना की जगह नहीं है और न ही इसमें इसका प्रयास किया गया है। इसी तरह इस शोध प्रबंध में प्रस्तुत कविताओं का भी सम्पूर्ण विश्लेषण करने का प्रयास भी नहीं किया गया है। इस शोध प्रबंध में विषय से जुड़ी प्रतिनिधि और महत्वपूर्ण कविताओं का ही अध्ययन किया गया है और उनके जरिये 1990 से 2010 तक की

कविता में अस्मितामूलक चिंतन के सन्दर्भ में वस्तु और रूप का अध्ययन किया गया है। इस अंतरसंबंध को समझने की दृष्टि से जो कवि सबसे महत्वपूर्ण प्रतीत हुए उन्हें ही चयन में शामिल कर उनकी कविताओं के आधार पर ही अध्ययन किया गया है। अस्मितामूलक चिंतन से जुड़ी कविता पर बात करते हुए अस्मिता के चिंतन को ही मुख्य तौर पर ध्यान में रखा गया है। ऐसा नहीं है कि स्त्री अस्मिता की कविता में केवल स्त्री कवयित्री ही हों बल्कि पुरुष कवियों में भी यह वैचारिकी दिखती है। ऐसे ही दलित कविता में गैर-दलित कवियों का और आदिवासी कविता में गैर-आदिवासी कवियों की कविता को भी अध्ययन में शामिल किया गया है। इसकी वजह यह है कि इस शोध में वैचारिकता को आधार बना कर उन्हें जगह दी गयी है। इस प्रक्रिया में इस दौर के अन्य कवियों और कविताओं जोकि अस्मिता से जुड़े नहीं रहे हैं उनका अध्ययन नहीं किया गया है।

शोध में केवल उन कवियों को शामिल किया गया है जो अस्मितामूलक चिंतन की वैचारिकी से जुड़े रहे हैं और अस्मिता की कविता के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। इस शोध में 1990 से 2010 तक की समय सीमा का निर्धारण इस तौर पर किया गया है कि बेशक 80 के दशक में अस्मिता चिंतन और साहित्य उभर कर आया हो परन्तु अपना पूर्ण रूप और उससे जुड़ा विमर्श उसने 1990 के दशक में ही पाया। 1990 के दशक के बाद भारत में भूमंडलीकरण और उदारीकरण की प्रक्रिया भी तेज हो जाती है ऐसे

दौर में अस्मिता विमर्श तेजी से सामने आते हैं। इसे समझने के लिए भी इस समय सीमा का चुनाव किया गया है।

इस अध्ययन में, पहले अध्याय में अस्मिता की अवधारणा पर विचार किया गया है। इस अध्याय में अस्मिता के अर्थ एवं आशय को समझने का प्रयास किया गया है। अब तक विभिन्न विचारकों ने अस्मिता के संदर्भ में अपने क्या विचार प्रस्तुत किए हैं? अस्मिता एक अवधारणा का रूप कैसे ग्रहण करती है? इन सभी प्रश्नों की पड़ताल इस अध्याय में की गई है। इस अध्याय के उप-अध्याय में जहां एक ओर अस्मिता के अर्थ एवं आशय को विस्तार से समझने का प्रयास किया गया है। वहीं दूसरी ओर वर्तमान परिदृश्य में अस्मिता से संबंधित अवधारणा या विचार क्या महत्व रखते हैं तथा समसमायिक परिदृश्य में हम अस्मिता को किस रूप में समझें, यह देखने की काशिश की गयी है। आज अस्मिता तथा इससे जुड़े विचार किस रूप में दिखाई देते हैं, यह देखने का प्रयास किया गया है।

दूसरे अध्याय में अस्मिता को साहित्य के अलावा विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने, समझने का प्रयास किया गया है। अस्मिता का विभिन्न आयामों से क्या संबंध है। यह देखने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय के उप-अध्यायों में अस्मिता के सवाल को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश की गयी है। इसमें देखने की कोशिश की गयी है कि इतिहास में अस्मिता का सवाल कैसे और किस प्रकार सामने आता है। और विभिन्न अस्मिताएं इतिहास में अपनी तलाश किस प्रकार करती हैं।

इस अध्याय में अस्मिता और मिथक के अंतरसंबंध को भी समझने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय में अस्मिता और राष्ट्र, अस्मिता और समाज, अस्मिता और धर्म अस्मिता और जाति, अस्मिता और राजनीति आदि के संबंधों को समझने का प्रयास किया गया है। और इन सब के बहाने साहित्य और संस्कृति के आपसी संबंधों की पड़ताल करने का प्रयास किया गया है। इसमें यह देखने का प्रयास किया गया है कि इन सबसे अस्मिता का क्या संबंध है और अस्मिता के संदर्भ में ये क्या भूमिका निभाते हैं।

तीसरे अध्याय में साहित्य में अस्मितामूलक चिंतन से जुड़े सवालों के संदर्भ में प्रमुख कवियों, आलोचकों और चिंतकों की क्या दृष्टि रही है, इसे जानने का प्रयास किया गया है। इसमें विभिन्न अस्मिताओं से जुड़े कवियों, आलोचकों की काव्यदृष्टि का मूल्यांकन व विश्लेषण किया गया है और अस्मिता के संदर्भ में उनके क्या सिद्धांत हैं, उनका सैद्धांतिक पक्ष क्या है, यह जानने का प्रयास किया गया है। विभिन्न कवि-आलोचक अस्मितामूलक चिंतन को किस प्रकार देखते हैं व परिभाषित करते हैं, इसका अध्ययन किया गया है।

चौथे अध्याय में अस्मिता और काव्यवस्तु में क्या संबंध है इस पर विचार किया गया है। इस अध्याय में अस्मिता और काव्यवस्तु से जुड़े व्यावहारिक पक्ष को ध्यान में रख कर विभिन्न संदर्भों में अध्ययन किया गया है। इस अध्याय के उप-अध्याय में स्त्री अस्मिता और काव्यवस्तु का अध्ययन,

उससे जुड़े व्यावहारिक संदर्भ यानी पितृसत्ता के संदर्भ में उसका अध्ययन किया गया है। ऐसे ही दलित अस्मिता और काव्यवस्तु का वर्ण व्यवस्था के संदर्भ में अध्ययन किया गया है तथा आदिवासी अस्मिता और काव्यवस्तु का साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के संदर्भ में अध्ययन किया गया है। इस अध्याय में इस बात की पड़ताल की गई है कि कोई अस्मिता अपनी काव्यवस्तु किस प्रकार ग्रहण करती है तथा काव्यवस्तु के धरातल पर उनमें क्या-क्या समानताएं एवं असमानताएं हैं तथा ये अस्मिताएं अपने स्वयं के अंदर भी किस तरह के प्रश्नों से जूझ रही हैं। किस तरह की समस्याएं इनके समक्ष आ रही हैं? इन सभी प्रश्नों का इस अध्याय में अध्ययन किया गया है।

पांचवें अध्याय में अस्मिता के संदर्भ में काव्यवस्तु और उसके रूप तत्व के अंतरसंबंध पर विचार किया गया है। इस अध्याय के उप-अध्यायों में अस्मितामूलक काव्यवस्तु के मिथक एवं प्रतीक, बिंब विधान और काव्य भाषा आदि पर विचार किया गया है। इस अध्याय में काव्यवस्तु और रूप के संबंध पर भी विस्तार से चर्चा की गई है और इनके आपसी अंतरसंबंध की पड़ताल करने की कोशिश की गई है। और इस बात का आकलन करने का प्रयास किया गया है कि काव्यवस्तु और रूप में क्या मुख्य है।

शोध के आखिर में निष्कर्ष दिया गया है, जिसके बाद आधार ग्रंथ, संदर्भ सूची को शामिल किया गया है।

अब जब यह शोध प्रबंध पूरा हो गया है मैं उन सभी का आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने जिंदगी में मुझे इस काबिल बनाया कि मैं एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में पढ़ सकूँ और यह शोध कर सकूँ। क्योंकि जीवन में कदम-कदम पर आपको रास्ता दिखाने वाले जो भी लोग मिलते हैं वह आपको जीवन के विषय में कुछ न कुछ सिखा रहे होते हैं। आप अपने समाज परिवेश से ही जीवन को देखने समझने की दृष्टि प्राप्त करते हैं। ऐसे उन सभी लोगों का आभार व्यक्त करता हूँ। मैं अपने जीवन में मिलने वाली सफलताओं के साथ-साथ उन असफलताओं का भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मुझे जीवन के महत्वपूर्ण सबक सिखाए और जिनसे प्रेरणा पाकर मैं जीवन में आगे बढ़ पाया।

उन सब संघर्षशील लोगों का आभार जिन्होंने एक बेहतर समाज की कल्पना में लगातार लड़ते हुए और हारते हुए और जीतते हुए जिन्होंने अपनी रचनाशीलता से इस दुनिया को रचा है। उन सभी रचनाशील मनुष्यों का आभार, जिनके संघर्ष की वजह से यह दुनिया अभी भी खूबसूरत बनी हुई है। और इसे और भी खूबसूरत बनाने का साहस और सपना बचा हुआ है। ऐसे सभी संघर्षशील लोगों का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ क्योंकि ऐसे सभी लोगों के संघर्ष की बदौलत ही मुझ जैसे व्यक्ति को यह शोध प्रबंध लिखने और पूरा करने का अवसर प्राप्त हो पाया।

यह शोध प्रबंध मेरी अम्मी और पापा की मेहनत का भी नतीजा है जिन्होंने मुझे इस काबिल बनाया कि मैं यहाँ तक पहुँच सका। इस समय मेरे पापा हमारे बीच नहीं रहे पर वो होते तो बहुत खुश

होते। अम्मी यह तुम्हारी मेहनत और त्याग का ही परिणाम है कि तुम्हारे बच्चे इस जगह पर पहुँच पाए हैं।

मैं अपने सभी दोस्तों, सहपाठियों, परिवार के सभी सदस्य, और शिक्षकों का भी इस अवसर पर आभार व्यक्त करना चाहता हूँ। इन सबने मेरे जीवन में जिस तरह से अपनी भूमिकाएं निभायी हैं, यह शोध प्रबंध उसका भी परिणाम है। इन सभी ने मेरे जीवन के महत्वपूर्ण पड़ावों पर अपना-अपना बहुमूल्य योगदान मेरे व्यक्तित्व की निर्मिति में दिया है। और इस शोध प्रबंध को पूरा करने में अपनी भूमिका निभायी है। मैं सभी का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं अपनी जीवन साथी मित्र भारती का और मेरी बहन से बढ़कर मेरी मित्र रुबीना का किन्हीं भी शब्दों में आभार व्यक्त करूं तो वह कम ही होगा। इन्होंने मेरे साथ हर समय खड़े रहकर न मेरे जीवन के विभिन्न पड़ावों पर मेरा साथ दिया है बल्कि इस शोध प्रबंध को पूरा करने में भी इन दोनों की बहुत बड़ी भूमिका रही है। इनके साथ चर्चा करते रहने से यह शोध और अधिक समृद्ध हो पाया है।

मैं अपने मित्र रेयाज़ और चन्द्रिका का भी किन्हीं भी शब्दों में आभार व्यक्त नहीं कर सकता क्योंकि इन दोनों ने इस शोध प्रबंध को पूरा करने में तकनीकी सुधार और विषय संबंधी महत्वपूर्ण चर्चा करने में अपना न केवल बहुमूल्य समय दिया बल्कि इसे समृद्ध करने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मैं केवल औपचारिकता निभाने के लिए नहीं अपितु हृदय से इन दोनों का आभार व्यक्त करता हूँ।

मेरे ऐसे मित्र रहे हैं जिन्होंने इस शोध प्रबंध के विषय में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, जिनके नाम का जिक्र मैं यहाँ करना चाहूँगा। इनमें सुनील मांडीवाल, लक्ष्मी, ललित, गोपाल, अनु, अर्जुन जी, और गुरमीत जी, जो अब हमारे बीच नहीं हैं पर इस शोध प्रबंध के प्रारंभिक चरण में मैंने उनसे इससे सम्बंधित महत्वपूर्ण चर्चाएँ कीं, जिससे इस शोध से संबंधित समझ विकसित करने में मुझे बहुत सहायता मिली। मैं अपने सभी मित्रों का आभार व्यक्त करता हूँ।

इसके अलावा में अपनी बेटी ओरहान ज़ोई का भी शुक्रगुजार हूँ कि उसने इस भागदौड़ और तनाव भरी मेरी जिंदगी में अपनी मुस्कराहट से खुशियाँ बिखेरी हैं। वह हमारे बीच एक खुशनुमा एहसास की तरह है। जब आपको सबसे ज्यादा ऊर्जा की ज़रूरत होती है तो तब वह ऊर्जा मुझे उससे मिलती है।

अंत में मैं अपने प्राध्यापक और शोध निर्देशक प्रो. गोबिंद प्रसाद का आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, पर उनका आभार व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। उनके निर्देशन की बदौलत ही यह शोध पूरा हो पाया। विषय के चुनाव से लेकर इस शोध प्रबंध के अंतिम रूप तक पहुँचने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उन्होंने मुझे इस विषय पर काम करने के लिए अकादमिक माहौल के बन्धनों और सीमाओं को कभी भी आड़े आने नहीं दिया। उन्होंने मुझे स्वतंत्र चिंतन के लिए वह स्पेस दिया जिससे मैं इस शोध प्रबंध के विषय में अपना मौलिक चिंतन भी कर सकूँ। साथ ही उन्होंने समय समय पर मेरे से शोध विषय संबंधी चर्चा करके मेरा मार्गदर्शन किया है। यह उन्हीं की मेहनत का नतीजा है कि

मेरे जैसा औसत दर्जे का विद्यार्थी इस शोध प्रबंध को पूरा कर सका। मैं उनका किन्हीं भी शब्दों में आभार व्यक्त करूं वह कम होगा। फिर भी मैं सर का अपने हृदय की गहराइयों से आभार व्यक्त करता हूँ।

इस शोध प्रबंध में जो भी खूबियाँ हैं या यह जितना भी बेहतर बन सका है वह आप सभी की मेहनत और योगदान का फल है और इसमें जो भी त्रुटियाँ रह गई हैं उसका जिम्मेदार सिर्फ और सिर्फ मैं ही हूँ।

शहज़ाद आलम

अध्याय एक

अस्मिता की अवधारणा

अस्तित्व और अस्मिता – ये दो ऐसे प्रश्न हैं जो मनुष्य के चिंतन के बहुत व्यापक हिस्से पर हावी रहे हैं। एक जैसे दिखने वाले इन प्रश्नों में पर्याप्त भिन्नता है। अस्तित्व का प्रश्न बुनियादी तौर पर दर्शन के क्षेत्र का प्रश्न है जबकि अस्मिता के प्रश्न के सामाजिक आयाम प्रमुख होते हैं। अस्तित्व का प्रश्न विश्व में मनुष्य की मौजूदगी और भूमिकाओं के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। अपने इस अस्तित्व की खोज और समझ को हासिल करने के लिए मनुष्य हमेशा से ही जूझता रहा है। कभी मनुष्य इस सवाल का हल पाने के लिए अपने और प्रकृति के संबंध को व्याख्यायित करने का प्रयास करता है तो कभी एक परमसत्ता की परिकल्पना करते हुए उसके साथ अपने संबंध को परिभाषित करने की कोशिश करता है। अस्तित्व का संबंध बुनियादी किस्म के प्रश्नों से है। यह सवाल मनुष्य के अपने अस्तित्व की खोज से जुड़ा हुआ है कि मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? धरती पर मेरे आने का उद्देश्य क्या है? ऐसे न जाने कितने सवालों से मनुष्य जूझता रहा है और इन सवालों की तरह-तरह से व्याख्या भी देता रहा है।

अधिकतर इन सारे सवालों के जवाब की तलाश मनुष्य दो दृष्टिकोणों से करता रहा है। या यह भी कह सकते हैं कि दो दृष्टिकोण हैं जिसमें व्यक्ति अपने और संसार के संबंध को समझने का प्रयास करता

रहा है। पहला दृष्टिकोण आध्यात्मिक दृष्टिकोण है जिसके तहत मनुष्य संसार को मिथ्या समझता रहा है और अपने 'स्वयं' को ईश्वर का एक अंश समझता रहा है। इस संसार को उसने माया का नाम दिया जो उसे ईश्वर से मिलने में बाधा उत्पन्न करता है। जबकि मनुष्य का इस धरती पर आने का उद्देश्य ईश्वर को प्राप्त करने के रहस्य या मार्ग को जानना और उसे प्राप्त करना है। ऐसे दृष्टिकोण के नतीजे में नियतिवाद का विकास हुआ, जिसके तहत मनुष्य जैसा है और जैसा हो रहा है, उसे भाग्य और नियति के माध्यम से देखने की कोशिश करता है और कोई संघर्ष करने की जरूरत नहीं समझता।

दूसरा दृष्टिकोण भौतिकवादी दृष्टिकोण है जिसके तहत इस संसार को मिथ्या नहीं भौतिक वास्तविकता माना जाता है। इसमें मनुष्य के होने में प्रकृति की भूमिका को देखा जाता है और इस संसार के बनने और मनुष्य के अस्तित्व को एक प्रक्रिया में समझने का प्रयास किया जाता है। इस दृष्टिकोण के तहत ईश्वर की अवधारणा पर सवाल खड़े किए जाते हैं। भौतिकवादी दृष्टि से एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित होता है जो समाज को उसकी गति या द्वंद्व में समझता है।

समाज के विकास की हरेक अवस्था में, उस अवस्था की विशिष्टताओं के तहत संसार को और स्वयं को देखने के ये दोनों दृष्टिकोण मौजूद रहे हैं और विमर्श का विषय बने रहे। ज्ञान की परंपराओं ने भौतिकवादी दृष्टि को अपनाया और कई तरह के ज्ञानानुशासनों को विकसित किया।

अस्तित्व के विपरीत अस्मिता का मुद्दा मनुष्य के सामाजिक विकास से जुड़ा हुआ है। अस्मिता सामाजिक बनावटों, स्थितियों, गतिविधियों और प्रक्रियाओं का विषय है क्योंकि मनुष्य की अस्मिता का निर्धारण उसकी समाज में उपस्थिति से होता है। समाज में रहकर ही मनुष्य की अस्मिता बनती है। व्यक्ति की अस्मिता का मुद्दा एक ऐसा विषय रहा है जिसने हमेशा से मनुष्य पर अपना प्रभाव बनाए रखा है। अस्मिता मनुष्य की वह पहचान है जो कि वह समाज में अर्जित करता है किसी व्यक्ति की अस्मिता वह है जिससे वह अपने को पहचानता है और अपनी उस पहचान को समाज द्वारा पहचाने जाने की वकालत करता है। यानी कोई व्यक्ति खुद को किसी अस्मिता से जोड़ कर देखता है और समाज से अपने को उसी अस्मिता से जोड़ कर देखे जाने की अपेक्षा करता है। आज के समय में यह एक बेहद विवादित शैक्षणिक विषय बना हुआ है।

अस्मिता के संबंध में जो भी पुरानी मान्यताएँ थीं वह अब बदल रही हैं या कहें कि वह अब निश्चित हो अपना रूप पा रही हैं। अस्मिता को आज हम कई संदर्भों में देखते और समझते हैं। अकादमिक विमर्शों से हमें अस्मिता के महत्व और उसके सामाजिक तथा सांस्कृतिक बदलावों का भी पता चलता है। दरअसल अस्मिता का विमर्श वंचित समुदायों का विमर्श है, जिन्होंने समाज में अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष किया है। इसी विमर्श के तहत वंचित अस्मिताओं के संघर्ष और मजबूत हुए, उन्होंने ऐतिहासिक आधार पर अपने को खोजने का प्रयास किया और खुद को खड़ा किया। ऐसे में विद्वानों द्वारा

अस्मिता को कई तरह से परिभाषित किया गया और समझने का प्रयास किया गया। आगे हम अस्मिता के विभिन्न आशयों और अर्थों को समझने का प्रयास कर रहे हैं।

अस्मिता का अर्थ एवं आशय

शब्दकोशों के आधार पर, अस्मिता मन का वह भाव या मनोवृत्ति है जिसके तहत एक व्यक्ति अपनी पृथक और विशिष्ट सत्ता का दावा करता है। यानी वह अपने होने का दावा करता है। यह एक किस्म का अहं-भाव, निजत्व का भाव है, अपने होने की चेतना है, अपनी सत्ता का भाव है, जो अंतिम तौर पर अपनी पहचान के रूप में अभिव्यक्त होता है।

शब्दकोशीय सीमाओं से परे, अकादमिक जगत में अस्मिता को कई तरह से परिभाषित करने और उसके अर्थ को समझने का प्रयास किया गया है। व्यापक समझ के अनुसार, अस्मिता से सामूहिकता का बोध होता है। निजत्व और सामूहिकता दोनों के द्वंद्व की मौजूदगी ही अस्मिता की एक ऐसी समझ तक पहुंचने में उलझन पैदा करती है, जिस पर सबकी सहमति हो। ऐसे में अस्मिता को किन अर्थों में देखा जाए या किस तरह की अस्मिता कौन से बोध के साथ जुड़ती है, यह एक अहम सवाल बनता है। इस आधार

पर दर्शन और विचारधाराओं के प्रभाव वे अहम कारक हैं जो इसके विश्लेषण में मदद करते हैं। इसके विकास क्रम के जरिए इसे समझना बेहतर होगा।

विचारधाराओं के विकास की एक प्रक्रिया रही है। वैश्विक स्तर के विमर्शों ने स्थानीय मानकों के आधार पर अपने को नया स्वरूप प्रदान किया। परंतु विकास की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया को हमें वहाँ से समझने की जरूरत है जहां से उस दृष्टि का उभार हम देखते हैं। इस लिहाज से वैश्विक स्तर पर अस्मिता का विमर्श उन विमर्शों के साथ जुड़ा हुआ है जिन्होंने क्रमिक तौर पर ऐसे विमर्शों की संभावनाओं को जन्म दिया। अस्मिता विमर्श एक आधुनिक विचार है जो आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के दौरान सिद्धान्त के रूप में सामने आया है। आधुनिकता के साथ कुछ लोकतांत्रिक मूल्य भी जुड़े हुए हैं, जो मनुष्य को समान अधिकार और समान सम्मान देने की वकालत करते हैं। इनसे लोगों में समानता और आत्मसम्मान की धारणा को मजबूती मिली तथा लोकतांत्रिक चेतना विकसित हुई। इस आधुनिक और लोकतान्त्रिक चेतना ने मनुष्य को न केवल एक निजी रूप में उसकी पहचान और अस्तित्व के लिए चेतनशील बनाया बल्कि अपनी एक सामूहिक पहचान और अस्तित्व के प्रति भी सजग बनाया।

चेतना के इस विकास ने इस तथ्य के प्रति ध्यान आकर्षित किया कि समाज में सभी मनुष्यों के पास वास्तव में समान अधिकार नहीं हैं, कुछ लोग दूसरे मनुष्यों का शोषण करते हैं और सारे संसाधनों पर केवल कुछ लोगों का ही कब्जा है। इससे यह सजगता और समझ विकसित हुई कि क्यों कुछ लोगों को

हीन समझा जाता है और कुछ लोगों को श्रेष्ठ, क्यों कुछ लोग ऊंचे समझे जाते हैं और कुछ लोग नीचे समझे जाते हैं?

विभिन्न विचारधाराओं और दर्शनों के तहत इन सवालों के जवाब खोजने के प्रयत्न किए गए। उनमें सबसे प्रभावशाली और व्यापक जवाब मार्क्सवादी दर्शन ने तलाशने की कोशिश की। इसके तहत, भौतिक स्थितियों पर आधारित विश्लेषण ने मनुष्य को उसकी एक वृहद अस्मिता के साथ जोड़ कर देखने की समझ प्रदान की है। इसने मनुष्य की व्यक्तिगत अस्मिता की जगह, एक सकारात्मक सामूहिक पहचान को प्राथमिकता दी है, जिसे वर्ग के रूप में परिभाषित किया गया है। शोषक और शोषित दो ऐसे व्यापक वर्ग हैं, जो अलग अलग अस्मिताओं की पहचान बनते हैं। मार्क्सवाद के अनुसार, अस्मिता और आत्म निर्माण मुख्यतः पूंजीवाद की समस्याएँ हैं।

मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *The Economic and Philosophic Manuscripts of 1884* में अलगाव की अवधारणा पर विस्तार से विचार किया है। मार्क्स के अनुसार अलगाव का मूल पूंजीवाद में है। यहाँ पूंजीपति अपनी पूंजी से श्रमिक के श्रम का शोषण करता है, मजदूरी के बदले वह उसकी उत्पादन क्षमता को खरीदता है। अतः इस व्यवस्था में श्रमिक का श्रम उसका अपना नहीं रहता क्योंकि वह उस श्रम को अन्य के लिए करता है। अतः यहाँ श्रम प्रक्रिया से अलगाव और परायापन पैदा होता है। मार्क्सवादी दर्शन में मजदूर वर्ग के पूंजीवाद के विरुद्ध सक्रिय होने वाली वर्ग चेतना अस्मिता की खोज

कही गई। डॉ. रामविलास शर्मा पूंजीवादी व्यवस्था में मजदूर और पूंजीपति की बदलती हुई अस्मिता को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं, "पूंजीवादी व्यवस्था में मजदूरों के हाथ से उत्पादन के साधन छिन जाते हैं, वे श्रमशक्ति बेचने पर मजबूर होते हैं। पूँजीपतियों की स्थिति ठीक इसके विपरीत होती है। वे उत्पादन के साधनों के मालिक बन जाते हैं, मजदूरों की श्रमशक्ति खरीदकर अतिरिक्त मुनाफा कमाते हैं किन्तु अलगाव के शिकार सभी वर्गों के लोग होते हैं। मजदूरों की अस्मिता का लोप इस हद तक होता है कि वे सर्वहारा बन जाते हैं और पूंजीपतियों की अस्मिता का लोप इस हद तक होता है कि वे मजदूरों की पैदा की हुई दौलत के मालिक बन जाते हैं। जो अस्मिता व्यक्ति के स्तर पर लुप्त होती है वह पुनः प्राप्त होती है वर्ग की अस्मिता के रूप में।"[1] अतः दर्शन के अनुसार व्यक्ति की स्वयं की मौलिक स्वतन्त्रता महत्वपूर्ण अर्थ रखती है परंतु सामूहिक अस्मिता उसे एक वृहद समूह से जोड़ती है।

वास्तव में अस्मिता का प्रश्न संकट की प्रकृति पर निर्भर करता है। देखा जाए तो मनुष्य जन्म से ही अपने को बंधनग्रस्त पाता है और विविध बंधनों से उसकी मुक्ति का प्रयास और संघर्ष ही उसकी अस्मिता का द्योतक है। इस तरह से मार्क्सवादी दर्शन एक वृहद अस्मिता को निर्मित करता है जो वर्गीय आधार पर एक वैश्विक और बड़ा विभाजन खड़ा करती है। इस आधार पर वर्गीय अस्मिता पहचान के तौर पर सबसे बड़ी अस्मिता के रूप में सामने आती है।

इसके बरअक्स यह विचार भी पेश किया जाता है कि अस्मिता का प्रश्न तभी उत्पन्न होता है जब बाह्य शक्तियों की प्रबलता अथवा दबाव के कारण मनुष्य के लिए अपने अस्तित्व को बनाये रखना कठिन हो जाय। अपने अस्तित्व अथवा सत्ता के प्रति जागरूक होना – यह विशिष्ट मनोवृत्ति सृष्टि के बौद्धिक प्राणी मनुष्य में ही है और वह हर बार अपनी बुद्धि और विवेक द्वारा प्रतिकूल स्थितियों-परिस्थितियों से जूझते हुए अपनी पहचान बनाये रखने का निरंतर प्रयास करता है। दर्शन और विचारों के इस द्वंद्व को और बेहतर तरीके से समझने के लिए यह देखना जरूरी हो जाता है कि अस्मिता को विद्वानों ने किस तरह से परिभाषित किया है। यहाँ हम कुछ पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा दी गई परिभाषाओं के जरिए अस्मिता को समझने की कोशिश करेंगे।

हाग और अब्राहम के अनुसार, "अस्मिता लोगों की वह अवधारणा है जो यह बताती है कि वे कौन हैं, किस तरह हैं, और वे दूसरों से कैसे संबन्धित हैं।"[2] इस आधार पर यह देखा जा सकता है कि अस्मिता उनकी एक ऐतिहासिक पहचान और उनके स्व की पहचान के साथ एक सामुदायिक पहचान को निर्मित करती है। एक ऐसा बोध जो अन्य से अलग करता हो और एक समुदाय विशेष में एकात्मता को विकसित करता हो। इसी आशय को नए शब्दों में रखते हुए डेंग ने कहा है कि, "अस्मिता व्यक्ति या समूह को जाति, भाषा, धर्म, और संस्कृति के आधार पर परिभाषित करने का तरीका है।"[3] यानी इसके जरिए एक व्यक्ति को अर्थवत्ता भी मिलती है। भाषायी विशिष्टता, धर्म की विशिष्टता या फिर संस्कृति, भाषा

और जाति के आधार पर जब कोई सामूहिक पहचान बनती है तो वह अस्मिता का आधार होती है। काजेंस्टेन के अनुसार, "वर्तमान में अस्मिता अपने तथा अन्य के बारे में पारस्परिक रूप से निर्मित और विकसित छवि है।"[4] काजेंस्टेन अपनी परिभाषा के जरिए स्व की निर्मिति को अन्य के बरअक्स खड़ा कराते हैं। एक व्यक्ति, समूह या समुदाय तभी उभर कर आता है जब दूसरा व्यक्ति, समूह या समुदाय उसके समानान्तर हो।

ऐरिक ऐरिक्सन अस्मिताबोध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- "अस्मिता के बोध का मतलब किसी व्यक्ति के खुद के होने के बोध से है, जब कि वह बड़ा और विकसित हो रहा होता है और इसी दौरान उसका अर्थ समाज के उस अस्तित्व बोध से, खुद के बोध को जोड़ना भी होता है जिससे कि उस समाज का इतिहास या मिथक निर्मित होता है और जिससे भविष्य जुड़ा होता है।"[5] ऐरिक अस्मिता के बोध को उस व्यक्ति के समुदाय के इतिहास से जोड़ने का प्रयास करते हैं। जिसमें वह इतिहास के लंबे काल में अपने और अपने समुदाय के साथ एक संबंध को जोड़ता है और अपने को अन्य समुदायों से अलग चिह्नित करता है। इसके साथ उसे अपने मिथकों की भी तलाश करनी पड़ती है। अपने एक अन्य लेख में इसे और व्याख्यायित करते हुए ऐरिक्सन कहते हैं- "अस्मिता, किसी समाज के खास इतिहास द्वारा पोषित विशेष मूल्यों से व्यक्ति विशेष के जुड़ाव को चिह्नित करती है। अस्मिता, इस विशेष वैयक्तिक विकास से अत्याचारियों को भी जोड़ती है। यह किसी व्यक्ति के भीतर स्थित आत्मपन की प्रवृत्तियों और

इसी प्रकार के दूसरों से व्यवहार के समय की प्रवृत्तियों दोनों को संकेतित करती है। इस प्रकार यह वैयक्तिक अस्मिता का चैतन्यबोध है, दूसरी ओर यह वैयक्तिक चरित्र की निरंतरता को बनाए रखने का अचेतन संघर्ष है। तीसरी बात, यह आत्म निर्माण के खामोश प्रयास की कसौटी है और अंततः यह समाज के आदर्श और अस्मिता के साथ व्यक्ति की आंतरिक एक प्राणता का पोषण है।"[6]

हालांकि इन सब परिभाषाओं में अंतरविरोध मौजूद हैं फिर भी इन परिभाषाओं से हमें यह तो पता चलता ही है कि अस्मिता सबसे पहले खुद को पहचानने की प्रक्रिया से जुड़ी होती है। यह मन का वह भाव है जिससे मनुष्य अपनी पहचान करता है, वह स्वयं को पहचानता है। इस पहचानने के क्रम में वह कुछ चीजों से अपने को जोड़ता तथा कुछ से अपने को अलग करता है। इसी क्रम में वह अपने और अन्य के बोध को भी विकसित करता है। वह अपने को व्यक्ति, समूह, जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति के रूप में परिभाषित करता है।

एक मनुष्य कई अस्मिताओं से जुड़ा होता है या उसकी कई सारी पहचानें होती हैं। एक मनुष्य धर्म, जाति, लिंग, भाषा, क्षेत्र, वर्ग, राज्य, और राष्ट्र आदि कई अस्मिताओं से जुड़ा होता है। परंतु कौन सी पहचान कब उभरेगी यह समय और स्थान पर निर्भर करता है। हम अलग-अलग संदर्भों में अलग-अलग पहचान का प्रयोग करते हैं। जब हम किसी से उसका नाम पूछते हैं तो असल में हम उसकी पहचान उसकी अस्मिता को जानने की कोशिश कर रहे होते हैं। नाम के साथ उसकी धर्म, जाति आदि की

अस्मिता भी कई बार जुड़ी होती है। इसी तरह, किसी व्यक्ति के क्षेत्र के बारे में जानने का मतलब उसकी क्षेत्रीय अस्मिता के बारे में पता करना हो सकता है। इस तरह एक व्यक्ति की अस्मिता से ही दूसरे व्यक्ति का जुड़ाव और अलगाव तय हो जाता है।

यह मनुष्य के विशिष्ट समाज के भीतर के समाजीकरण का हिस्सा होता है कि वह अपने विभिन्न खाने या कॉलम या ब्लॉक बना लेता है और जिसमें वह अपने करीब और दूर के लगाव के हिसाब से लोगों को वरीयताक्रम के अनुसार रखता है। जो उसकी अस्मिता से जितना ज्यादा जुड़ा होता है वह उस व्यक्ति के ज्यादा नजदीक के खाने में होता है और जो उसकी अस्मिता से नहीं जुड़ा होता तो वह दूर के खाने में होता है।

अस्मिता व्यक्ति के लिए आस्था और गौरव का भी प्रतीक है, क्योंकि इसी के द्वारा 'मैं हूँ' की प्रतीति सार्थक होती है। व्यक्ति के लिए सबसे अधिक अस्मिता की तड़प अपनी संस्कृति, साहित्य, भाषा तथा अपने जातीय गौरव के लिए होती है। इसलिए यह व्यक्ति के होने के बोध की सार्थकता को व्यक्त करने वाला शब्द है। इस तरह हम देखते हैं कि अपनी पहचान की प्रक्रिया में अस्मिता की आवश्यकता खड़ी होती है इस अस्मिता में जहां अपनी अलग पहचान होती है वहीं इस पहचान की वजह से दूसरों से अलग होने की प्रक्रिया भी निहित होती है। इस अलग होने में विभिन्न अस्मिताओं में आपसी टकराहट भी खड़ी हो जाती है क्योंकि पहचान की प्रक्रिया में दूसरों से अलग होना पड़ता है। क्योंकि जब

अपनी पहचान का सवाल आता है तो उसमें दूसरे से अलग होने की प्रवृत्ति भी विद्यमान रहती है क्योंकि अलग हुए बिना अपनी पहचान संभव नहीं है।

अस्मिता का समकालीन परिदृश्य

अस्मिता एक आधुनिक अवधारणा है, हालांकि यह मनुष्य की 'आत्म' और 'अन्य' की पुरानी धारणाओं के ही सापेक्ष खड़ी होती है। अस्मितावादी चेतना के साथ ही 'हम' और 'अन्य' का बोध पैदा होता है। श्यामाचरण दूब लिखते हैं, "सामाजिक विकास के चरणों से ही मानव-समूहों और समुदायों ने 'हम' और 'अन्य' में अंतर किया है। 'हम' श्रेणी के सदस्यों में निकटता, सद्भाव, और सहयोग था, 'अन्य' के संबंध में उनमें हमेशा शंका का भाव रहा जिसने उन्हें सतर्क रखा और कभी-कभी गंभीर संघर्ष की स्थितियां भी उत्पन्न कीं। जब समाज यायावर परिवारों के झुंडों के आधार पर गठित था, प्रत्येक परिवार की अपनी पहचान थी जिससे कुछ प्रतिष्ठा-चिह्न जुड़े थे। अस्मिता की आवश्यकताओं ने एक नयी और बड़ी सामाजिक इकाई बनाने की प्रेरणा दी, कई यायावर परिवार मिलकर दल के रूप में संगठित हुए। ये सभी अपनी सामूहिक अस्मिता के प्रति जाग्रत थे। धीरे-धीरे बड़े सामाजिक संगठनों की जरूरत महसूस की गई। राष्ट्र के एक नए सामाजिक गठन के साथ यह भी जरूरी था कि एक बड़ी अस्मिता को भी सामूहिक स्वीकृति मिले।"[7]

इस तरह से हम देख सकते हैं कि जहां अस्मिता के विमर्श ने और अस्मिता के उभार ने स्वयं के भीतर सामूहिकता का विकास किया वहीं सामाजिक विघटन भी पैदा किए। अपने समूह के साथ एक ऐतिहासिक जुड़ाव को स्थापित करना और उसे अन्य के बरअक्स खड़ा करना, परंतु इसी के साथ अन्य के भेद को भी पैदा करना इसके मूल में निहित था। यह किसी एक इतिहास और एक विचार के विकास को अस्वीकार करना भी था। एक सीमा तक यह अनिवार्य भी था, एक ऐसे समय में जब, बकौल अजय वर्मा, "अस्मिताबोध से जातीय चेतना और फिर राष्ट्रवाद इसी क्रम में गण समाजों से राष्ट्र, राज्य तक की यात्रा सम्पन्न हुई।"[8]

इस तरह व्यापक परिदृश्य में हम देखते हैं कि 'हम' और 'अन्य' का बोध, अस्मिता के जन्म के साथ जुड़ा हुआ है। यह अस्मिता ही है जिसके कारण व्यक्ति अपने को अन्य से भिन्न और विशिष्ट मानता है। यह अस्मिता मनुष्य की पहचान से जुड़ी होती है परंतु अस्मिता, विमर्श और चिंतन के क्षेत्र में अपना अलग ही अर्थ रखती है।

समकालीन परिदृश्य में आज भूमंडलीकरण, उत्तर-आधुनिकता एवं तकनीकी वर्चस्वाद की प्रक्रिया के बीच अस्मिता विमर्श एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न के रूप में उभरा है। यदि हम अस्मितामूलक चिंतन को देखें तो यह विमर्शों के रूप में हमारे सामने आता है। विभिन्न विमर्शों के माध्यम से हाशिए की वैचारिकी समाज में अपने स्थान के लिए संघर्ष कर रही है। इसी संघर्ष को वह विमर्शों में अभिव्यक्त करती

हैं। इस हाशिए की वैचारिकी को केंद्र में लाने के प्रयास को उत्तर-आधुनिक चिंतन से बल मिलता है। हालांकि हाशिये का समाज विभिन्न संघर्षों के माध्यम से अपने अधिकारों की लड़ाई हमेशा से लड़ता रहा है परंतु उत्तर-आधुनिकतावाद ने जब केंद्र की अपेक्षा परिधि को मुख्य माना तो अस्मिता-विमर्श मुख्य रूप से उभर कर सामने आए। तत्कालीन समय में यदि हमें अस्मिता को समझना है तो पहले हमें उत्तर-आधुनिकता को समझना होगा। उसके सिद्धांत और उसकी वैचारिकी को समझना होगा जिसके फलस्वरूप अस्मितावादी विमर्श और ज्यादा उभर कर सामने आए।

20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में समाज में जो भी परिवर्तन संस्कृति, अर्थव्यवस्था, राजनीति तथा कला, संगीत, वास्तुशास्त्र, साहित्य और चिंतन के क्षेत्र में आए हैं उन सभी को परिलक्षित करने वाला एक व्यापक लेकिन विवादास्पद पद है: उत्तर-आधुनिकतावाद।

उत्तर-आधुनिकता का आरंभ 1979 में प्रकाशित ल्योतार की पुस्तक 'The post modern condition: A report on knowledge (1979)' से माना जाता है। ल्योतार ने अपनी इस पुस्तक के माध्यम से महाख्यानों के अंत की घोषणा की। महाख्यानों के अंत से तात्पर्य ऐसे किसी भी सिद्धांत का नकार है जिससे सारे विश्व को समझा जा सके। दरअसल उन्होंने कहा कि ऐसा कोई एक कॉमन सिद्धांत नहीं हो सकता जिससे विश्व की हर एक चीज़ को समझा जा सके या सब पर एक समान लागू हो। उन्होंने इतिहास के अंत की बात की। डॉ. अमरनाथ के अनुसार, "आज के समय को ल्योतार उत्तर-आधुनिक

स्थितियाँ कहता है। ल्योतार का प्रसिद्ध कथन है कि उत्तर-आधुनिकतावाद महावृत्तांत (*Grand Narration*) के विरुद्ध है। अब महावृत्तांत का अंत हो चुका है। ईसाइयत, मार्क्सवाद, और वैज्ञानिक प्रगति का मिथ महावृत्तांत है। ल्योतार के अनुसार मैक्रो और ग्लोबल की जगह माइक्रो और एथनिक विमर्श के केंद्र में आ रहे हैं। छोटे-छोटे अस्मिता समूहों का उदय (नारी विमर्श, दलित विमर्श आदि) वस्तुत: सकलतावादी विश्व व्यवस्था के खिलाफ उत्तर आधुनिक आवाज का परिणाम है।"[9]

इस रूप में उत्तर आधुनिकता के विमर्श ने ऐसे अस्मितावाद को और बल दिया जो कई बड़ी अस्मिताओं को तोड़ कर उन सभी छोटी-छोटी अस्मिताओं को जगह देती है। यह ऐसी विचारधाराओं पर एक बड़ा प्रहार था जो दुनिया को एकरूपी समझने और एक वैश्विक इतिहास की वकालत कर रही थी। यानी वस्तुगत सच कुछ भी नहीं था, बल्कि सच की वास्तविकता देखने वाले के व्यक्तिगत, आत्मपरक अवस्थिति पर निर्भर करती थी और उससे निर्धारित होती थी।

एस. एल. दोषी के मुताबिक, ल्योतार कहते हैं कि "ये वृत्तांत बड़े और भव्य सिद्धांत या विश्वास हैं जो समाज की गतिविधियों और उसमें होने वाले सामाजिक परिवर्तन का उल्लेख करते हैं। मार्क्सवाद और प्रकार्यवाद इन वृत्तांतों के दृष्टांत हैं। इनका प्रयोग समाजशास्त्री दुनिया की गतिविधियों और कामकाज को समझने के लिए करते हैं। उत्तर-आधुनिकता ऐसे महान वृत्तांतों सिद्धांतों को अस्वीकार करती है। इसका तर्क यह है कि मानव समाज में जो बुनियादी सत्य है, उनकी पहचान ये वृत्तांत नहीं कर

सकते।"[10] इस अवधारणा को रखते हुए यह कहने की कोशिश की गई कि कोई भी विचारधारा समूचे इतिहास को नहीं समाहित कर सकती है। खुद उत्तर-आधुनिकता का विचार भी। बावजूद इसके कि वह इतिहास के बड़े फलक को व्याख्यायित और विश्लेषित कर सकती है। मसलन, मार्क्सवाद ने दुनिया को समझने के लिए जो वर्गीय आधार प्रदान किया था वह शोषकों और शोषितों की अस्मिता को खड़ा करता है। इस तरह से वैश्विक स्तर पर एक के बरक्स दूसरे के इतिहास, संघर्ष और पहचान को बहुत आसानी से समझा जा सकता था। परंतु उत्तर-आधुनिकता ने इस विचार को नकारा और एक ऐसे दृष्टिकोण को आगे बढ़ाया, जिससे इस सामूहिकता का बिखराव और अन्य अस्मिताओं के उभार को बड़ा बल मिला।

उल्लेखनीय है कि ल्योतार महावृत्तांतों को भव्य एवं आकर्षक मानते हुए भी मानव समाज के बुनियादी सत्य से इन्हें दूर पाते हैं, वे महावृत्तांत में आस्था एवं अनास्था को ही आधुनिकता एवं उत्तर-आधुनिकता के विभाजक बिंदु के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं, "मैं उत्तर-आधुनिकता को महावृत्तांतों के प्रति संशय के रूप में परिभाषित करता हूँ।"[11] आगे वे फिर लिखते हैं कि- "मैं आधुनिक पद का उपयोग किसी विज्ञान के लिए करूंगा, जो स्वयं में वैधता के लिए किसी वैसे महान विमर्श का संदर्भ ग्रहण करता है, जो महावृत्तांत निर्मित करता है।"[12]

आधुनिकता एक विचार के साथ उस आंदोलन से उभर कर भी आई थी जो रैशनेलिटी को स्वीकार करती थी और इरेशनल विचारों के खिलाफ थी। सामाजिक व्यवस्था के तहत लोकतन्त्र को एक मूल्य के रूप में देखना और सामूहिकता को सर्वोपरि मानना भी इसी विचार के उभार से और मजबूत हुआ।

ल्योतार 19 वीं और 20 वीं शताब्दी की आधुनिकता को चुनौती देते हुए कहते हैं, "उन्नीसवीं और बीसवीं सदी ने हमें उतना भय दिया है जितना हम ले सकते थे। हमने इस संपूर्णता/सकलता और एलकता के लिए बहुत बड़ी कीमत चुकाई है।"[13] किसी भी समय-काल में एक विचार का उद्भव और उसका उभार सामाजिक परिस्थितियों से पैदा होता है। ऐसे में किसी भी विचारधारा का बनना उसके पूर्ववर्ती विचारधाराओं के प्रभाव से ही सक्षम हो पाता है। हम ऐसा नहीं सोच सकते कि यूरोप में रेनासा के पूर्व आधुनिकता स्थापित हो सकती थी। क्योंकि उसके मूल में ही वह तर्क था जो तार्किकता के जरिए आधुनिकता को स्थापित करा सकता था। उत्तर-आधुनिकता के अन्य विचारकों ने भी इस पर अपने विचार दिए, कुछ विचारकों के माध्यम से हम यहाँ इसे और समझने की कोशिश करेंगे।

संयुक्त राज्य अमेरिका के चिंतक फ़्रेडरिक जेमसन ने अपनी किताब *पोस्ट मॉडर्निज्म: द कल्चरल लॉजिक ऑफ लेट कैपिटलिज्म* में उत्तर-आधुनिकता को पूंजीवाद के विकास की एक खास अवस्था कहा है। इसे वे विलंबित या हाल का (Late) पूंजीवाद का नाम देते हैं। यहाँ हम यह देख सकते हैं कि

पूंजीवाद एक व्यवस्था के रूप में तभी स्थापित हो पाया जब सामंतवादी व्यवस्था ढहनी शुरू हुई। वैज्ञानिक और तकनीकी विकास की प्रक्रिया ने उत्पादन के सम्बन्धों को बदल दिया। लगभग दो सदी के विकास में पूंजीवाद एक अलग अवस्था में पहुंचा जहां छोटी पूंजी को बड़ी पूंजी ने अपने में समाहित करना शुरू कर दिया। इस अर्थ में यह एक अलग तरीके का साम्राज्य बनना शुरू हुआ। जेमसन जिसे 'लेट कैपिटलिज़्म' पूंजीवाद कह रहे हैं यदि उसे व्याख्यायित किया जाए तो उसे अपनी स्थितियों से जर्जर अवस्था में जाने का एक आभास दे रहे हैं।

एक अन्य विद्वान जान रेंडल ने कहा भी है कि "उत्तर-आधुनिकता, आधुनिकता के बीच पैदा हुआ वह क्षण है जहां आधुनिकता थक गई है।"[14] इसके आशय को हम इस तरह से देख सकते हैं कि आधुनिकता को इन्होंने एक समय काल के भीतर देखने की कोशिश की है जबकि आधुनिकता का विचार समय से ज्यादा उन मूल्यों के आधार पर बनता दिखाता है जो एक पुरानी सामाजिक संरचना को तोड़ कर नई संरचना को स्थापित करता है। आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता की इस बहस में सामने आए मत आधुनिकता के विचार का या तो नकार थे या वे उसे आगे बढ़ाने के दावे के रूप में आए।

उल्रीच बैक ने 'रिस्क सोसायटी' में लिखा है, "आधुनिकता अभी अपूर्ण है। हम आधुनिकता का अंत नहीं प्रारम्भ देख रहे हैं, उस आधुनिकता का प्रारम्भ जो अपनी क्लासिक औद्योगिक डिजाइन से परे है। जिस प्रकार आधुनिकीकरण ने उन्नीसवीं सदी के सामंती समाज कि व्यवस्था को अस्त-व्यस्त किया

और एक औद्योगिक समाज की स्थापना की उसी प्रकार आज का आधुनिकीकरण औद्योगिक व्यवस्था को खत्म कर रहा है और एक अन्य आधुनिकता सामने आ रही है। समांतर आधुनिकतावादी परिदृश्य नए सामाजिक आंदोलन और विज्ञान प्रौद्योगिक तथा प्रगति की आलोचना अब दुनिया को बदल रही है। यह समांतर आधुनिकता, आधुनिकता के विरोध में नहीं खड़ी हुई, बल्कि वह रिफ़्लैक्टिव आधुनिकता को व्यक्त करती है अर्थात यह आधुनिकता की त्रुटियों एवं विसंगतियों से मुक्त है।"[15] उत्तर-आधुनिकता ने एकल विचार की अवधारणा को नकारते हुए अन्य को एक वैचारिक महत्व प्रदान किया। अस्मिताओं के विमर्श को ऐसी वैचारिकी से एक मजबूती मिली परंतु जो बड़ी अस्मिताएँ बनी थीं वे वैचारिक तौर पर खंडित भी हुई।

समाजशास्त्री अभिजीत पाठक लिखते हैं, "उत्तर-आधुनिकता, आधुनिकता के समग्रतावाद को बहुलतावाद और सापेक्षतावाद से प्रतिस्थापित करती है। उत्तर-आधुनिक इस तथ्य को सामने लाते हैं कि आधुनिकता ने किस प्रकार हमारी वैकल्पिक सांस्कृतिक परम्पराओं को नुकसान पहुंचाया है। आधुनिकता की ऐकिक दृष्टि एवं एकरूपता की इच्छा ने हमें अलग-अलग संस्कृतियों की धनी परम्पराओं के प्रति उदासीन बनाया है और इस तरह हमें सांस्कृतिक रूप से दरिद्र बनाया है। आधुनिकता ने कैसे अनेक प्रजातीय लैंगिक और हाशिए पर धकेले गए लोगों की आवाज़ों को चुप कर दिया है।"[16] एक तरह से देखा जाए तो यह एक लोकतांत्रिक स्वरूप प्रदान करते हुए हाशिए की लड़ाइयों को उभारने

की वकालत करता है परंतु यह जो संघर्ष एक बड़ी अस्मिता बनकर एकजुट हो सकते थे उन्हें भी विखंडित ही करता है।

समग्रता और बहुलता के इस द्वंद्व पर विचार करते हुए फूको की यह बात गौरतलब है कि "जिसे सामान्य और सर्वस्वीकृत कहा जाता है वह एक प्रकार का मानकीकरण है। उसमें हमेशा वर्चस्व की मंशा छिपी होती है। मानव विज्ञानों ने समग्रता का एक मिथक रचा है जिनकी वास्तविक भूमिका दमनकारी है। समग्रता के किसी दावे को खारिज किया जाना चाहिए, क्योंकि वह केन्द्रपरक है, वर्चस्ववादी है और किसी भी 'अन्य' की उपस्थिति को नकारता है।"[17] फूको के अनुसार सारे विमर्श शक्ति-विमर्श हैं इसलिए ज्ञान और सत्ता में पूर्ण तादात्म्य है सत्ता के सूक्ष्म तंत्र का आरोही विश्लेषण करते हुए-(स्थानीय-राज्य), वे इस बात को खारिज करते हैं कि सत्ता अंततः राज्य में स्थित होती है। उनके अनुसार स्थानीय संदर्भ से जुड़ा ज्ञान ही सत्ता के टेकनीक और व्यवहार को कूटबद्ध करता है। अतः इस विशिष्ट कोड के रहस्य के प्रकट होने के बाद ही यह देखा जा सकता है कि इन स्थानीय सत्ता सम्बन्धों का इस्तेमाल कैसे कुछ सामान्य कार्यविधि और टेकनीक के द्वारा विश्वव्यापी प्रभुत्व के लिए किया जाता है। फूको के अनुसार इससे उबरने का एक ही रास्ता है- अधिक मुक्त विमर्श की स्थापना, जिसके लिए हमें स्थानीय संदर्भों में हस्तक्षेप करना होगा। फूको की रुचि उस तरह के शक्ति सम्बन्धों में भी थी जिन्हें वे 'गैर राजनीतिक राजनीति' की श्रेणी में रखते हैं जैसे- स्त्री पर पुरुष का प्रभुत्व, बच्चों पर माता-पिता का प्रभुत्व, मानसिक

रोगियों पर मनोचिकित्सक या लोगों पर दवा का प्रभुत्व आदि। इस तरह के अवर्ग संघर्ष की व्याख्या न तो वर्ग-भेद या अर्थशास्त्र के द्वारा की जा सकती है और न ही इन्हें वैश्विक राजनीतिक-सांस्कृतिक आंदोलनों एवं युक्तियों के नाम पर अनदेखा किया जा सकता है।

फूको द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना एवं 'विशिष्ट बुद्धिजीवी' की धारणा इसी विचार के आधार पर विकसित हुई। शक्ति के इस कार्यव्यापार को स्पष्ट करते हुए फूको 'पावर एज नॉलेज' में कहते हैं कि "शक्ति किसी संस्थाओं एवं उनकी कार्य पद्धतियों में नहीं जो नागरिक पर आधिपत्य जमाती हैं। ताकत से मेरा तात्पर्य गुलाम बनाने वाले उन तौर तरीकों से भी नहीं जो हिंसा की जगह कानून बनाकर अपना काम करते हैं। मैं एक समूह के दूसरे समूह पर वर्चस्व की बात भी नहीं कर रहा। ये सारी चीज़ें तो शक्ति संरचनाओं के अंतिम परिणाम हैं। ताकत को तो हमें सबसे पहले उन शक्ति सम्बन्धों की बहुलता में देखना चाहिए जो अपना स्वयं का एक 'मेकेनिज़्म' बनाती हैं। इस बहुलता का अपना एक चरित्र है इसमें संघर्ष, द्वंद्व, रूपान्तरण, शक्ति संचयन और बिखराव का एक सिलसिला चलता रहता है।"[18]

इस आधार पर यह देखा जा सकता है कि फूकों ताकत या शक्ति को किसी एक केंद्र में न रखते हुए उसे विकेंद्रीकृत करने की कोशिश करते हैं। उनके अनुसार "एक व्यापक दृष्टिकोण से उत्तर-आधुनिकता के तीन केंद्रीय तत्व हैं, पहला समग्रतावादी सार्वभौमिक सत्यों का नकार, दूसरा तर्कवाद का नकार, और तीसरा आधुनिकता की सक्षमता का नकार।"[19]

उत्तर-आधुनिकता के मूल तत्व हैं- अस्वीकार, विखंडन और अविवेक। आधुनिकता के अस्वीकार के साथ ही यह तार्किकता को भी अस्वीकार करता हुआ दिखाता है। राजनीतिक तौर पर उत्तर-आधुनिकता, मार्क्सवाद और दो व्यापक वर्गों के रूप में वैश्विक समाज को देखने के नजरिए का वैचारिक नकार था।

फ्रांस में जां-फ्रांस्वा ल्योतार, मिशेल फूको, रोलां बार्थ, जां बाद्रीला और ज्याक देरिदा से होते हुए, उत्तर-आधुनिकतावाद पाल द मान के साथ सफर करते हुए अमेरिका के विश्वविद्यालयों तक पहुंची। और फिर अमेरिकी चिंतकों की व्याख्या के हवाले से भारत में भी इसकी अनुगूँज सुनाई देने लगी। हिंदी साहित्य में अस्सी के दशक से इसकी चर्चा होनी शुरू हो गई और यह चर्चा सदी के अंतिम दशक में साहित्यिक विमर्श का केंद्र बन गई। यही वह दौर था जब भारत में अस्मिता के विमर्शों का भी उभार दिखाई देता है। नब्बे के दशक तक पहुँचते-पहुँचते उत्तर-आधुनिकता का प्रभाव-क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि यह कला, साहित्य, संस्कृति, राजनीति तथा समाजशास्त्र के विमर्श के केंद्र में आ गई। उत्तर-आधुनिकता के प्रभाव क्षेत्र का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि फिल्म से लेकर फैशन तक, विचार से लेकर विज्ञापन तक, कल्चर से लेकर कॉमिक्स तक, इतिहास, दर्शन, कला, साहित्य, मीडिया सब उत्तर-आधुनिकतावाद से प्रभावित हुए हैं।

उत्तर-आधुनिकता ने बहुलतावाद अथवा बहु-संस्कृतिवाद तथा केन्द्रीयता की अपेक्षा क्षेत्रीयता/स्थानीयता पर बल दिया इसने एकीकृत नजरिए के बजाय विभिन्नता या अन्यता को मूल प्रश्न माना। परिणामस्वरूप विरोधी विचार, हाशिये पर स्थित लोग, परिधि पर स्थित जातियाँ – काले लोग, दलित जनजातियाँ, मूलवंशी समूह, नारी वर्ग, समलैंगिक व्यक्ति, हर प्रकार के ऐसे लोग जिनकी पहचान या आवाज़ नहीं सुनी जाती थी और जिन्हें सत्ता की भागीदारी, समाज में सक्रियता तथा सांस्कृतिक संवाद के दायरे से बाहर रखा या समझा गया था, अब वर्चस्व के संघर्ष के नए समूह बनकर उभरने लगे। इन मुद्दों को लेकर भारत की राजनीति, संस्कृति तथा साहित्य में जो हो रहा है वह उत्तर-आधुनिकता की अवधारणा के अनुकूल ही प्रतीत होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उत्तर-आधुनिकतावाद ने इतिहास को क्रमिक के बजाय अवरुद्ध, रैखिक के बजाय वर्तुल, संयुक्त के बजाय विभाजित, एक के बजाय अनेक, केन्द्रित के बजाय विकेंद्रित घोषित कर दिया। सत्ता के इस विकेंद्रीकरण ने अस्मिताओं को खुद की स्थापना और संघर्ष के लिए एक जमीन तैयार की।

इस तौर पर हम देख सकते हैं कि उत्तर-आधुनिकता ने वैचारिक आधार पर जो जमीन तैयार की उसने ऐसे कई विमर्शों को दुनिया भर में उभारा जो अलग-अलग स्थानीयताओं में अलग तरह की अस्मिताओं को एक जमीन प्रदान कराते हैं। एकरूपी इतिहास के बजाए अस्मिताओं ने अपने-अपने इतिहास और संघर्ष को नए तरह से विश्लेषित करने का प्रयास किया। भारतीय संदर्भ में जाति और जाति

के संघर्षों के इतिहास निकल कर सामने आए। महिलाओं ने अपने दमन और शोषण के इतिहास को नए सिरे से तलाशने की कोशिश की। और आदिवासी विमर्श भी मुखर होकर सामने आने लगे। अस्मिताओं को बनाने और उसे विकसित करने के लिए यह जरूरी था कि वे अपने इतिहास को नए सिरे से बनाएँ और हम देखते हैं कि भारत में अस्मिता के मजबूत होते संघर्ष ने अपने इतिहास को और मजबूत करना शुरू किया और उन्हें नए ढंग से विश्लेषित किया।

उत्तर-आधुनिक विद्वानों ने इतिहास के अंत की बात की है लेकिन अस्मितावादी चिंतन से इतिहास को फिर से परिभाषित करने और अपनी सार्थकता तलाशने की प्रक्रिया को अलग करके नहीं देखा जा सकता। यह चिंतन अपने को तार्किक और न्यायपूर्ण सिद्ध करने के लिए इतिहास को अनिवार्यत: अपना हिस्सा बनाती है। पुरुषोत्तम अग्रवाल के शब्दों में, "अस्मिता परिभाषित ही होती है, स्मृति से, चाहे बात उत्पीड़ित अस्मिता की हो या उत्पीड़क अस्मिता की।"[20] इतिहास के वे मानक जिनके आधार पर इतिहास रचा जा रहा था, वे बदल गए और नए तरह के मानक बनाने शुरू हुए। अस्मिताओं ने साक्ष्यों को अस्वीकार किया और अपनी स्मृतिओं और मौखिक कहानियों को आधार बनाकर एक ऐसे इतिहास को सामने रखा जो सत्ताधारी वर्ग के लिए चुनौती बना और अपनी सामूहिकता को एक ऐतिहासिक क्रम में संगठित भी किया। समाजशास्त्रीय विमर्शों और वैचारिक आधारों के साथ-साथ यह उभार साहित्य में भी जल्द ही दिखने लगा।

हिंदी साहित्य के संदर्भ में देखा जाए तो अस्मितामूलक चिंतन विमर्शों के रूप में 80 के दशक से सामने आने लगते हैं। परंतु 90 के दशक के बाद इनमें तेजी से उभार आता है। हिंदी साहित्य में अस्मितामूलक विमर्शों में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, और आदिवासी विमर्श मुख्य रूप से दिखाई देते हैं। यहाँ अल्पसंख्यक विमर्श जैसी कोई अस्मिता सामने नहीं दिखाई पड़ती। हालांकि भारतीय समाज में स्त्री, दलित, आदिवासी के साथ-साथ अल्पसंख्यक समाज भी हाशिये पर ही स्थित है परंतु हिंदी साहित्यिक क्षेत्र में उनकी अभिव्यक्ति नगण्य है। हिंदी साहित्य में स्त्री अस्मितामूलक विमर्श हिंदी साहित्य की कविता विधा में उभर कर आया है। जबकि दलित अस्मितामूलक विमर्श मुख्य रूप से आत्मकथा विधा के रूप में ज्यादा उभर कर आया है। आदिवासी अस्मिता विमर्श की अभिव्यक्ति हिंदी साहित्य की कविता विधा में हुई है। समकालीन परिदृश्य में यदि देखें तो इन विमर्शों ने हिंदी साहित्य में आज अपने लिए महत्वपूर्ण स्थान हासिल कर लिया है। यह विमर्श हाशिये के समाज के सवालों को मुख्य सवाल के तौर पर सामने लाने में सफल हुए हैं। इन्होंने न केवल हिंदी साहित्य में बल्कि भारतीय समाज में भी हलचल पैदा कर दी है और बनी बनाई तमाम तरह की रूढ़ियों को तोड़कर अपने लिए एक महत्वपूर्ण स्थान हासिल किया है।

संदर्भ सूची

[1] डॉ. रामविलास शर्मा, *नयी कविता और अस्तित्ववाद*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993, पृ.211.

[2]"Identify is people's concepts of who they are, of what sort of people they are, and how they relate to others" Hogg. Michael and Dominic Abraham (1988), Social Identification: A Social Psychology of Intergroup Relations and Group Process, London Routledge, Page no. 2

[3] "Identity is the way individuals and group defined by other on basis of race, ethnicity, religion, language and culture." Jenkins, Richard (1996), *Social Identity*, London: Routledge, p.4.

[4] "The term [Identity] (by convention) references mutually constructed and evolving images of self and other." Katzenstein, peter, ed. (1996) *The Culture of National Security: Norms and Identity in world Politics,* New York: Columbia University Press, P.6.

[5] "A sense of identity means a sense of being at one with oneself as one grows and develops, and it means at the same time, a sense of affinity with community's sense of being with its future as well as its history or mythology" Erik Erikson, *Dimensions of New Identity*, New Delhi, Light and life publishers, 1975 P.27-28.

[6] "Identity points to an individual links with the unique valves, fostered by a unique history of his people. Identity also relates to the cornerstone of his individual's unique development. Identity expresses a mutual relation. It cannot both a persistent sameness within oneself (self sameness) and a persistent sharing of same kind of essential characters with other. At the same it is conscious sense of individual identity, at another it is an unconscious starving of a continuity of a personal character. At third, it is criterion for the silent doing of ego synthesis, and finally it is a maintenance of an inner solidarity with group's ideal and identity."
Erik h Erikson, The problems of Ego Identity and Anxiety, ed. Arthur vidich stein and David white, NewYork, The Free Press 1960, Page no. 38

[7] श्यामचरण दुबे, *समय और संस्कृति*, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2005, पृ.149.

[8] अजय वर्मा, "मुक्ति का अस्मितावादी विमर्श और स्त्री", *जनमत*, मई 2002 पृ.20.

[9] डॉ. अमरनाथ, *हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ.77-78.

[10] एस.एल. दोषी, *आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत*, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2005, पृ.275.

[11] जे.एफ. ल्योतार, 'द पोस्ट मॉडर्न कंडीशन: रिपोर्ट ऑन नॉलेज,' मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रैस, मैनचेस्टर, 1984 पृ.xiii.

[12]वही, पृ.xiv.

[13] वही, पृ.81.

[14] सुधीश पचौरी, *उत्तर-आधुनिक साहित्य-विमर्श*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996, पृ.25, उद्धृत.

[15] देवेन्द्र इस्सर, *उत्तर-आधुनिकता: साहित्य और संस्कृति की नई सोच*, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, 1996, पृ.47.

[16] अभिजीत पाठक, "उत्तर-आधुनिक विश्व में एक समाजशास्त्री की यात्रा", देवी शंकर नवीन एवं सुशांत कुमार मिश्र (सं.), *उत्तर-आधुनिकता : कुछ विचार* में , वाणी प्रकाशन, 2000, पृ.49.

[17] विजय कुमार, *अंधेरे समय में विचार*, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2006, पृ.122.

[18] वही, पृ.121.

[19] डॉ. अमरनाथ, पूर्वोक्त, पृ.78.

[20] पुरुषोत्तम अग्रवाल, "मुझको डर आतिशे गुल से है", *कथादेश*, फरवरी, 2003, पृ.33.

अध्याय दो

अस्मिता के साहित्येतर आयाम

पहले अध्याय में हमने यह समझने की कोशिश की कि वैश्विक स्तर पर किस तरह के विमर्शों के जरिए अस्मिता के विमर्श को जगह मिली और इसको एक राजनैतिक उभार के रूप में सामने लाने में किन विचारधाराओं का प्रभाव रहा। इसमें सबसे महत्वपूर्ण योगदान उत्तर-आधुनिक विचारधारा का रहा। उत्तर-आधुनिकता के विद्वानों ने उन दर्शनों को नकारा या चुनौती दी, जो समाज और इतिहास को लेकर अखंडता, एकसारता या एकरूपता बनाने वाले दर्शन थे, और विकेंद्रीकरण, विविधता या विषमता को जगह दी। इस विमर्श ने सत्ता के प्रतिष्ठानों को बदलने की कोशिश की जिससे नए सत्ता संबंधों का उभार हुआ, जिसके तहत अस्मिता का विमर्श उभर कर हमारे सामने आया। हमने यह समझने की कोशिश की कि किस तरह से अस्मिता मनुष्य की पहचान से जुड़ी होती है और मनुष्य की पहचान कई तरह से परिभाषित होती है। मनुष्य अपनी अस्मिता को राष्ट्र, जातीय समुदाय, धर्म, जाति, लिंग, राजनीति, भाषा और संस्कृति आदि से जोड़कर देखता है। ये अस्मिता के वे साहित्येतर आयाम हैं, जिन पर हम इस अध्याय में गौर करेंगे।

ऐतिहासिक रूप से अस्मिताओं के उभार या 'अन्य' के बरअक्स अपनी अस्मिता को खड़ा करने के लिए यह जरूरी था कि स्वयं के इतिहास को तलाशा जाए। इसलिए अस्मिता के सवाल के साथ इतिहास का सवाल जरूरी हो जाता है। निश्चित रूप से अस्मिताओं का उभार एक बाद की घटना है परन्तु इतिहास में उनकी मौजूदगी बहुत पहले से रही है। भारतीय संदर्भ में जब हम अस्मिता के विमर्श को तलाशने की कोशिश करते हैं तो यह अध्ययन करना जरूरी हो जाता है कि इतिहास में विभिन्न अस्मिताएं कैसे बनीं, उनकी क्या स्थिति थी, उन्हें किस प्रकार व्याख्यायित किया गया। इस लिहाज से इस अध्याय में हम इतिहास और अस्मिता के सवाल को सबसे पहले समझने की कोशिश करेंगे।

भारतीय इतिहास में अस्मिता का सवाल

एक विधा के रूप में इतिहास हमें किसी भी विमर्श को गहराई से समझने में मदद करता है। नए विमर्शों की स्थापना के लिए यह जरूरी होता है कि वह सबसे पहले अपने इतिहास की तलाश करें और इतिहास में खुद को स्थापित करें। इस रूप में अस्मिता के विमर्श का सवाल भी इतिहास के साथ जुड़ता है। पहले अध्याय में यह कहा जा चुका है कि अस्मिताओं ने खुद को स्थापित करने के लिए अपने इतिहास को खोजा और उसे स्थापित करने के लिए वह अपना इतिहास नए सिरे से खोजने के साथ उसे गढ़ने का भी प्रयास लगातार जारी रखे हुए हैं। भारतीय इतिहास लेखन में अस्मिताएं अपने भिन्न-भिन्न

स्वरूप में मौजूद रही हैं। स्थानीय तौर पर जब इतिहास में यहां अपनी मौजूदगी को तलाशा जाता है तो ऐसे ग्रंथ और ऐसी श्रुतियों को देखने की कोशिश की जाती है जो हजारों साल पहले के कुछ साक्ष्य पेश कर सकें। इस आधार पर वेद, स्मृतियां और चार्वाक दर्शन, लोकायत व अन्य ग्रंथों के सहारे अपने इतिहास के कुछ तत्वों को समझने की कोशिश की जाती है।

अस्मिता के विमर्श में भी जाति, जेंडर, आदिवासी अस्मिताओं ने भी अपनी स्थिति को इन्हीं माध्यमों से समझने का प्रयास किया। परन्तु एक बदले हुए समय में उन्हें देखने और समझने के मूल्य भी बदल गए। मसलन वर्ण व्यवस्था से जाति के बनने और जातियों के सोपानीकृत होने की स्थिति और उनके साथ भेदभाव के बर्ताव की मौजूदगी को सामाजिक संरचना की ऐतिहासिकता में समझने से मदद मिलती है। लोकतांत्रिक मूल्यों के उदय और समता-समानता की अवधारणा ने इन विमर्शों को उभरने में और पुरानी जड़ स्थितियों को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ऐसे में जातीय अस्मिता को यदि हम इतिहास में जा कर देखें तो हमें पता चलता है कि यह वर्ण और जाति आधारित व्यवस्था कितनी पुरानी है।

ऐतिहासिक साक्ष्य अस्मिता विमर्श के लिए आधार उपलब्ध कराते हैं जिनसे वह अपने शोषण और संघर्ष की परंपरा की पहचान कर सकें। परन्तु इन ऐतिहासिक साक्ष्यों के अध्ययन के लिए भी ऐतिहासिक चेतना की आवश्यकता होती है जिसके बिना ऐतिहासिक साक्ष्य केवल तथ्य मात्र होते हैं। इस

सन्दर्भ में अस्मिता के विमर्श के उभार और स्थापना में इतिहास की पुनर्स्थापना को दिखाते हुए ओमप्रकाश केजरीवाल अपनी पुस्तक *एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल एंड द डिस्कवरी ऑफ इंडियाज़ पास्ट* में लिखते हैं

> यह बात आश्चर्य पैदा करती है कि अब से केवल दो सौ साल पहले भारत के विद्वान लोग भी चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, कनिष्क यहाँ तक कि बुद्ध के नाम और उनके ऐतिहासिक महत्व से अपरिचित थे। इसलिए हम कह सकते हैं कि अट्ठारवी सदी में भारत के पास केवल उसका अतीत था इतिहास नहीं। अतीत विभिन्न स्थापत्य और पुरातात्विक अवशेषों, अभिलेखों, पत्थरों, लौहस्तम्भों, कॉपर प्लेटों, दबे हुए प्राचीन शहरों और सिक्कों में मौजूद था। लेकिन इतिहास की खोज संबंधी चेतना के अभाव में लोग उनके महत्व से अनभिज्ञ थे। ऐतिहासिक दृष्टिकोण और चेतना के अभाव ने भारत को उसके ही ऐतिहासिक अवशेषों के प्रति उदासीन बना दिया।[1]

इससे यह बात समझी जा सकती है कि आधुनिक चेतना और लोकतांत्रिक मूल्यों की समझ से ही न केवल भारतीय समाज ने बल्कि हाशिए पर मौजूद अस्मिताओं ने भी अपने इतिहास की खोज आरम्भ की। जैसे-जैसे स्त्री, आदिवासी और दलित समाज में चेतना आनी शुरू हुई, समाज सुधार के साथ स्त्रियों की दशा, आदिवासी उत्पीड़न और जाति व्यवस्था पर प्रश्न खड़े होने शुरू हुए। इससे इतिहास के लेखन और इतिहास के स्वरूप में भी बदलाव आया। ऐसे अवशेषों की खोज शुरू हुई जो स्त्री, आदिवासी और दलित समाज के मूल्यों को सामने ला रहे थे और समता-समानता की अवधारणा को स्थापित करने में

मदद कर रहे थे। इस तरह के इतिहास लेखन को लेकर ई.एच. कार ने लिखा है कि "नई खोजें और नए दृष्टिकोण इतिहास को आगे बढ़ाने की प्रक्रिया में पैदा होते रहते हैं। इतिहासकार स्वयं भी इस प्रक्रिया से प्रभावित होता है। इतिहास को लिखने वाला स्वयं इतिहास लेखन के विकास की प्रक्रिया का अंग होता है। इतिहास के जिस खास दौर का वह अंग होता है वही दौर इतिहास संबंधी उसकी चेतना और विज़न को निर्मित करने का काम करता है।"[2] इतिहास के लेखन में जो बदलाव दिखाई पड़ रहा था वह इसी सोच का हिस्सा था। बदलते हुए वक्त और समाज के साथ इतिहासकार अपने विजन और लेखन दृष्टि को बदल रहे थे जिसके फलस्वरूप ऐसे इतिहास के अवशेषों को उभार मिला जो अस्मिता के इतिहास को और उसकी स्थिति को पीछे जाकर देखने समझने में मदद करते हैं। इससे पहले का इतिहास लेखन जिन स्रोतों पर आधारित था वे महत्वपूर्ण थे, चाहे मनुस्मृति हो, वेद हो या पुराण। परन्तु सामाजिक संरचना और बदलते मूल्यों ने इन्हें नए तरीके से व्याख्यायित किया। विजय और गौरव के इतिहास में पराजय और घृणा के इतिहास को खोजा जाने लगा। वर्तमान मूल्यों में उस वक्त की स्थिति को आंका जाने लगा। वंचित समाज में पैदा हुए सुधारकों ने इसे एक नए नजरिए से देखने का प्रयास किया। अस्मिता के चिंतन के तहत मूलनिवासियों के मूल अधिकारों और बाहर से आने वाले आक्रमणकारियों के अन्यायपूर्ण आधिपत्य के व्यापक दायरे में अस्मिताओं की जगहें तलाशी गईं। मिसाल के लिए वंचित तबके के अग्रणी चिंतकों में से एक ज्योतिबा फुले लिखते हैं

> आर्यों ने यहाँ के मूल निवासियों को गुलाम बनाया और उन्हें उनकी जमीन से बेदखल कर दिया। जिस प्रकार से यहाँ के मूल निवासियों ने जो आज शूद्र कहलाते हैं, इन हमलावरों का सामना किया उससे उनकी मेहनत और हिम्मत का पता चलता है। इन लोगों के खिलाफ शूद्र, महार, अंत्यज और चांडाल जैसे बेज्जत करने वाले संबोधनों का इस्तेमाल किया जाने लगा। इन शूद्रों ने ही ब्राह्मणों-पंडों के इस देश में शक्ति और हुकूमत की स्थापना के प्रयासों का डटकर प्रतिरोध किया। इस वजह से ही इन्हें आर्य हमलावरों के द्वारा इतनी गहरी नफरत और वितृष्णा की निगाहों से देखा जाने लगा।[3]

इस तरह से आर्य और अनार्य की बहस के तहत और यहां के मूल निवासियों के साथ इतिहास में हुए जुल्म को नए तरह से देखने का प्रयास किया गया। इसी तरह स्त्रियों और आदिवासियों ने भी इतिहास में अपने खिलाफ हुए शोषण और उसके खिलाफ अपने प्रतिरोध के इतिहास को भी खोजने का प्रयास किया और उसके लिए उन्होंने उन्हीं वर्चस्ववादी ऐतिहासिक साक्ष्यों का सहारा लेकर अपने स्वयं के इतिहास की व्याख्या करना प्रारंभ किया। इसमें प्रमुखता से प्रतिरोध को उभारा गया। इससे प्रतिरोध करने वाले समाज को और समुदाय को बल मिला। उसे यह समझने में मदद मिली कि किस तरह से उसके साथ इतिहास में अन्याय मौजूद रहा है और वह किस स्तर तक रहा है। वर्तमान में होने वाले अन्याय के साथ उसका किस तरह का संबंध बनता है। क्योंकि आधुनिक समय में मूल्य बदल रहे थे और राष्ट्र भी एक बड़ी अस्मिता के रूप में सबको बांध रहा था। ऐसे में एक अस्मिता का दूसरे के साथ अंतर्द्वंद्व भी स्थापित किया जाने लगा। बलकृष्ण भट्ट ने हिंदू समाज की बुराइयों और राष्ट्र के विकास को जोड़ते हुए लिखा है

कि "दंभ और मक्कारी की बुनियाद जब तक सनातन धर्म कायम रहेगा और एक भी इसके मानने वाले बचे रहेंगे तब तक हिंदूस्तान की तरक्की न होगी।"[4] इस तरह से एक अस्मिता के उभार और बेहतरी के लिए और बदले हुए राजनैतिक स्वरूप में ऐसे विमर्श निकल कर सामने आए जो दूसरी अस्मिता या राष्ट्र की सामूहिक चेतना को एक नई दिशा की ओर ले जा रहे थे। यही नहीं, बल्कि इन विमर्शों द्वारा उस बनी बनाई पुरानी शोषणकारी व्यवस्था पर तीखे व्यंग्य और करारी चोट की भाषा में प्रतिउत्तर दिए जाने लगे। यह विरोध के स्वर इस व्यवस्था के अन्दर और बाहर दोनों ओर से आ रहे थे। बालकृष्ण भट्ट ने 'इस सनातन धर्म के संरक्षक' की ज़िम्मेदारी निभाने वाले ब्राह्मणों के बारे में लिखा है, "निपट लंठ अब के ब्राह्मणों में शऊर और अकल कहाँ कि इतना सोचें कि हमारे धर्म के सिद्धांत और रीति-नीति पुराने-पड़ते घिनौनी हो गई हैं।"[5] इस तौर पर वर्ण व्यवस्था के सोपानों में सर्वोच्च स्थान पर बैठे ब्राह्मणों को यह समझाने का प्रयास किया गया है कि उनके द्वारा बनाई गई व्यवस्था अब पुरानी पढ़ गई है। यह व्यवस्था शोषण और दमन पर टिकी हुई है, जिसे बदला जाना चाहिए। यह लेखन अस्मिता की उस समझ को दिखा रहा है जिससे ब्राह्मणों को इस तरह की भाषा में कहने की ताकत मिल पा रही है। अस्मिता विमर्श को सामने लाने में और उसे मुख्य धारा की बहस बनाने में इसी ताकत और साहस की जरूरत थी।

शुरुआती दौर में जब अस्मिता विमर्श मुखर रूप में सामने नहीं आया था, बल्कि वह एक समाज सुधार आंदोलन का हिस्सा था, तब जैसा कि रोमिला थापर लिखती हैं, महात्मा फुले जैसे चिंतकों ने

"आर्य प्रजाति के सिद्धांत को ऊंची जातियों के द्वारा अपनी ताकत बढ़ाने की कोशिश के रूप में देखा। उनके लिए (फुले के लिए) आर्य 'अन्य' थे जबकि हिंदूवादी धारणा में आर्य नहीं बल्कि गैर हिन्दू 'अन्य या विदेशी' में गिने जाते थे।"[6] इतिहासकारों की नई पीढ़ी के विद्वानों ने इस नई चेतना को समझा और इतिहास को देखने के वर्चस्वादी दृष्टिकोण को पलट कर रख दिया और उन्होंने मूलनिवासी व बाहर से आए समुदायों को आर्यों और अनार्यों के रूप में देखा। उन्होंने इतिहास की नई समझ को हमारे सामने रखा और हाशिए पर मौजूद तबकों के दृष्टिकोण से भी इतिहास को देखने की पहल की। इसमें स्वयं अस्मिता के विमर्श से जुड़े हुए हाशिए के लोग थे जिन्होंने अपने इतिहास को खोजा। स्त्रियों ने, आदिवासियों ने, और दलितों ने अब अपना इतिहास स्वयं लिखना शुरू किया। उनका मानना था कि अब तक जो इतिहास लिखा गया है, वह वर्चस्ववादी दृष्टिकोण से लिखा गया है, जिसमें हाशिए की आवाजों की अभिव्यक्ति नहीं हुई है, इसलिए नए सिरे से इतिहास को लिखने की आवश्यकता है।

इस तरह जब अस्मितामूलक विमर्श उभर कर सामने आते हैं तो वे अपने वर्तमान के साथ-साथ अपने इतिहास को भी नए सिरे से सहेजने का काम करते हैं, क्योंकि वर्तमान में लड़ी जाने वाली लड़ाइयों को अतीत के संघर्षों से बल मिलता है। इसलिए उनके लिए यह जरूरी हो जाता है कि वह अपने न केवल अतीत को जानें बल्कि अपने इतिहास का निर्माण भी करें। अस्मितामूलक विमर्शों ने यह काम बखूबी किया है।

इस तरह से हम देख सकते हैं कि इतिहास के नए चिंतन और विमर्श ने भारतीय इतिहास में अस्मिता के विमर्श को उसी समय से शुरू कर दिया जब लोकतांत्रिक मूल्यों ने समता और समानता पर आधारित नए समाज को स्थापित करने की परिकल्पना प्रस्तुत की। ऐसे में यह देखा जा सकता है कि अस्मिता का चिंतन भले ही कई दशकों बाद शुरू हुआ परन्तु इतिहास में उसकी जमीन पहले से ही तैयार हो गई थी।

मिथक और अस्मिता के अंतरसंबंध और पुनर्व्याख्या

किसी भी समाज में मिथक एक अहम तत्व होता है जो इतनी गहराई तक अपनी जगह बनाए होता है कि साक्ष्यों पर आधारित इतिहास कमजोर प्रतीत होता है। इतिहास और मिथक के बीच इस तरह से एक संबंध भी स्थापित होता दिखता है। मिथक की कथाएं अपनी व्याख्याओं के जरिए इतिहास को निर्मित करती हैं। वे एक स्वरूप का वृत्तांत होती हैं, जिनसे उस वक्त के समाज को समझने में मदद मिलती है। मिथकों का कोई लिखित कालखंड नहीं है, बल्कि वे लोक में व्याप्त ऐसे वृत्तांत हैं जिनकी कथा समय, स्थान और वक्ता के साथ बदलती रहती है। ऐसे में उनके मूल और उनके उद्देश्य को समझना और उसकी व्याख्या करना इस बात पर निर्भर करता है कि कौन किस समय और किस स्थान से उसे देख रहा है।

अस्मिता की चिंतन धारा में मिथकों को नए ढंग से समझा गया और उसकी व्याख्या की गई। एस.एन. मुखर्जी और सर विलियम जोन्स लिखते हैं कि "वास्तविक भारतीय इतिहास का आरंभ ईसा की तीन या चार सदी पहले हुआ है, उससे पहले का सारा समय आडंबर और कपोल कल्पित कल्पनाओं से आच्छादित है।"[7] यहां जिसे इतिहास के पहले का कालखंड बताया गया है, ये वो कालखंड है, जिसके साथ वर्ण व्यवस्था के शासकों द्वारा लिखित इतिहासों ने अपना संबंध जोड़ा है। यही वह दौर भी है, जब वर्ण और जाति व्यवस्था के तहत शासक वर्गों ने खुद को ऊपर और अन्य जातियों और अस्मिताओं को नीचे रखकर सोपानीकृत करना शुरू किया। भारतीय सन्दर्भ में यदि हमें मिथकों को देखना है तो हमें पुराणों के साथ-साथ रामायण और महाभारत को भी देखना होगा जिनके मिथकों का सामान्यत: हवाला दिया जाता है। अस्मितावादी विमर्शकारों ने उनमें प्रयुक्त मिथकों और उनकी व्याख्याओं को अनैतिहासिक, आडम्बर भरा, मिथ्या, और कल्पना आधारित बताया तथा उनकी अपने तरीके से पुनर्व्याख्या की। उन्होंने इन ग्रंथों में आए मिथकों को ध्वस्त कर अपने नए मिथकों का भी निर्माण किया। स्त्री विमर्शकारों ने सीता, गार्गी, अहिल्या, शबरी, सूपर्णखा आदि मिथकीय पात्रों की पुनर्व्याख्या प्रस्तुत की और उनके साथ हुए अन्याय को स्त्री के साथ कालांतर से हो रहे अन्याय के साथ जोड़ा। इसी तरह आदिवासी विमर्शकारों ने इन ग्रंथों के माध्यम से अपने मिथकों को ढूंढ़ा और उनकी नई व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने एकलव्य, घटोत्कच, बर्बरीक, आदि मिथकीय पात्रों की पहचान की और उन पर होने वाले शोषण को व्याख्यायित किया। इसी प्रकार दलित अस्मिता के विमर्शकारों ने भी अपने मिथकों की

पहचान की और उनकी आधुनिक व्याख्या प्रस्तुत की। यह सब इस कारण हो पाया क्योंकि यह हाशिए का समाज धीरे-धीरे विभिन्न प्रयासों के फलस्वरूप शिक्षित हो पाया और समाज में अपनी दयनीय स्थिति को और उसके कारणों को समझ पाया था। जैसा कि दलित चिंतक कँवल भारती लिखते हैं, "इन वर्गों में, अंग्रेजी राज तथा ईसाई मिशनरियों के प्रयासों से आई शैक्षिक जागृति के कारण अपने इतिहास को खोजने के क्रांतिकारी प्रयास हुए हैं। इन प्रयासों से जो स्थापनाएं सामने आई हैं, उनमें हिंदुओं के सारे पौराणिक मिथक ध्वस्त हो गए हैं।"[8] इस तरह, एक तरफ मिथक ध्वस्त हुए तो दूसरी तरफ इतिहास को खोजने के प्रयास शुरू हुए।

स्थापित मिथकों का अस्वीकार इसलिए जरूरी था क्योंकि ये वंचित अस्मिताएं जिस अवस्थिति में थीं, उसके लिए ये मिथक भी काफी हद तक जिम्मेदार थे, क्योंकि उन्हीं के जरिए इसके तर्क लोगों के बीच स्थापित किए गए थे कि वे वर्ण व्यवस्था में एक खास जगह पर क्यों हैं और उनके दायित्व का विस्तार और अधिकारों की सीमा क्या है। जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं,

> हिन्दू वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों से उद्भूत मानी जाती है। अर्थात वर्ण-व्यवस्था का कारण भी ईश्वर ही है, दलित लोग अवर्ण या अंत्यज हैं। सवर्ण हिन्दुओं के लिए वे अस्पृश्य रहे हैं। सदियों से सवर्णों की घृणा, अपमान और उपेक्षा के शिकार होने के साथ-साथ उनकी सामाजिक-आर्थिक दशा जितनी सोचनीय रही है, वह किसी भी 'मानवीय' मन को दहला देने के लिए काफी है। दलित साहित्य का सारा-का-सारा चिंतन इस व्यवस्था के नकार में खड़ा है। वह ईश्वर

> को किसी भी रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है क्योंकि ईश्वर की स्वीकृति के पीछे बहुत सारी चीजों की स्वीकृति जुड़ी है।[9]

इस तरह जाति विरोधी विमर्शकार मिथकों को अस्वीकार करते हुए जातीय समाज में किसी भी सुधार की गुंजाइश को अस्वीकार करते हैं। यह इस चिंतन परंपरा से एक विद्रोह था, क्योंकि इस चिंतन परंपरा में दलितों के साथ ही, न तो स्त्रियों के लिए स्थान था और न ही आदिवासियों के लिए। ये मिथक बताते हैं कि जातीय समाज में गार्गी, शम्बूक और एकलव्य की क्या जगहें हैं। इसलिए मिथकों को खारिज किए बगैर यह संभव नहीं था कि स्त्री, आदिवासी और दलित समाज या जातीय अस्मिता अपने को कहीं खड़ा कर पाती। जैसा कि उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि इन मिथकों की स्वीकृति के पीछे बहुत सारी चीजों की स्वीकृति जुड़ी हुई है। इसलिए अपनी अस्मिता और खुद को खड़े करने के लिए इसे पूरा का पूरा अस्वीकार करना ही एक मात्र उपाय है। ओमप्रकाश केजरीवाल लिखते हैं,

> हिन्दू राजनीति और शासन क्रम के बारे में जो भ्रम और अंधकार व्यापक रूप से फैला हुआ है वह दो परस्पर विरोधी कारणों से पैदा हुआ है। एक तो इतिहास को मिथ-आडंबर से ढंक देने वाली ब्राह्मणों व कवियों की अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पना के कारण। दूसरा, हिंदुओं की उस अज्ञानता के कारण जिसकी वजह से वे प्राचीन इतिहासकारों, ब्राह्मणों व कवियों के द्वारा अतीत की घटनाओं के लेखन में इस्तेमाल किए गए विभिन्न युगों और कालनिर्धारण की पद्धति में मौजूद अंतर को नहीं देख सकते हैं। इसने इतिहास को असंख्य विकृतियों और अंतर्विरोधों से भर दिया।[10]

इस तरह से काव्य के आधार पर किए गए इतिहास लेखन पर भी प्रहार हुए। मिथक और इतिहास को एक साथ मिलाने के प्रयासों को विकृतिपूर्ण माना गया, क्योंकि मिथकों में मौजूद ऊंच-नीच और अन्य अस्मिताओं को घृणा से देखने की प्रवृत्ति, इतिहास लेखन में भी चली आई थी। इसलिए जब मिथकों को खारिज किया गया तो इतिहास पर भी सवाल उठे और सबाल्टर्न इतिहास लेखन का नया दौर शुरू हुआ। जिसने विलोपित अस्मिताओं के मिथकों को भी खोजा और उनकी नए तरीके से व्याख्या की।

अस्मिता और राष्ट्र

अस्मिताओं के उदय की जब हम बात करते हैं तो उनका एक ऐतिहासिक संबंध भी दिखाई देता है। दुनिया में एक वृहद भूगोल ने गुलामी को देखा है। ऐसे में गुलामी से मुक्ति के लिए और उसके साथ बाजार के बनने के बीच हम राष्ट्र और राष्ट्रीयताओं के उदय को देख सकते हैं। आधुनिक समय में राष्ट्र एक वृहद अस्मिता के रूप में अपनी पहचान रखता है। राष्ट्र की अवधारणा एक आधुनिक अवधारणा है। यह एक ऐसी अवधारणा है, जिसके नाम पर विशाल जनसमूह को एकसूत्र में आधुनिक समय में बाँधा गया है। राष्ट्र के नाम पर एक विशाल जाति विभिन्न तरह के मतभेदों को भुलाकर जहाँ एकसाथ आने के लिए तैयार होती है, वहीं इसी राष्ट्र के नाम पर वह अपने को दूसरे से अलग भी करती है। आज दुनिया की तमाम सभ्यताओं ने अपने को किसी न किसी राष्ट्र के नाम पर संयोजित किया हुआ है और वे अपने को

किसी न किसी राष्ट्र के नाम से, राष्ट्रीयता के नाम पर ही परिभाषित करती हैं। इसी से राष्ट्रीय भावना या राष्ट्रवाद का भी उदय होता है जो एक राष्ट्र और उसके जनसमूह को दूसरे राष्ट्र और जनसमूह से अलग करती है। पारिभाषिक तौर पर यदि समझा जाए तो हम राष्ट्र को एक ऐसे जनसमूह के रूप में समझ सकते हैं जो एक भौगोलिक सीमाओं से निश्चित क्षेत्र में रहता हो, जो समान परम्पराओं, समान हितों और समान भावनाओं से बंधा हो, और जिसमें एकता के सूत्र में बंधने की उत्कंठा और समान राजनैतिक आकांक्षाएँ पाई जाती हों। राष्ट्रवाद यह अपेक्षा करता है कि नागरिक, अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को सभी अस्मिताओं से ऊपर रखेंगे।

राष्ट्र की भावना का उभार पूरी दुनिया में बहुत ही कम समय में मजबूत अस्मिता के रूप में सामने आया। इस राष्ट्र और राष्ट्रवाद की धारणा ने जहाँ एक ओर बड़े जनसमूह को आपस में बांधने का काम किया वहीं इसने एक जनसमूह को दूसरे से अलगाने का काम भी किया। आज दुनिया भर में लोग किसी न किसी राष्ट्रीय अस्मिता से जुड़े हुए हैं और वह अपनी इस राष्ट्रीय अस्मिता के लिए कुछ भी कर गुजरने को तत्पर रहते हैं। दुनिया में तमाम देश और उनके लोग इस राष्ट्रीय अस्मिता के चलते अपने को अन्य राष्ट्रीयताओं से श्रेष्ठ समझते हैं। भारत जैसा देश कई राष्ट्रीय अस्मिताओं से मिलकर बना है, जहां विविधता और अलग पहचान के आग्रह की जड़ें बहुत गहरी हैं और कई बार ये संघर्ष का रूप ले लेती हैं। भारत में एक राज्य के लोग अपने को दूसरे राज्य के लोगों से अलग समझते हैं और यहाँ हर राज्य में

स्थानीय और बाहरी के बीच संघर्ष बना रहता है, जिसको लेकर भारत में विभिन्न राजनीतिक दल अपनी राजनीति करते हैं।

ऐतिहासिक रूप से, भारत में अस्मिता के रूप में राष्ट्र का बनना ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के खिलाफ होने वाले आंदोलनों से शुरू हुआ। आधुनिक समय में एक अवधारणा के रूप में राष्ट्र पहले आ चुका था। परंतु ब्रिटिशों के बरअक्स स्वदेशी आंदोलन और देशजता को लेकर जो मुहिम शुरू हुई उसने राष्ट्र की अस्मिता को मजबूत किया।

सुधीर रंजन लिखते हैं कि "राष्ट्रवाद की जितनी सीमाएं गिनाई जाती हैं, उन्हें मंजूरी देते हुए इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जाना चाहिए कि उसके बगैर उपनिवेशवाद-विरोध का कोई आख्यान नहीं तैयार हो सकता था, और न ही राष्ट्रीय जनों की वह एकता संभव थी, जो तमाम मतभेदों और छोटे-मोटे संघर्षों के बावजूद एक हद तक बनी हुई है। उसकी इस शक्ति को उत्तर-औपनिवेशिक संदर्भ में प्रभावशाली अर्थ दिया जा सकता है।"[11] अन्य अस्मिताओं के संघर्ष को ध्यान में रखते हुए भी ब्रिटिश काल में जो राष्ट्रीय अस्मिता उभर कर सामने आई वह उस वक्त की जरूरत थी, जबकि राष्ट्र के भीतर कई तरह के मतभेद बने ही रहे। जब ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता ने भारत से जाने की घोषणा कर दी और सन सैंतालीस के बाद ऐसी पहचानें और उभर कर सामने आईं जो उस वक्त कमजोर सी दिख रही थीं। उन्होंने संवैधानिक और समाज के भीतर सांस्कृतिक संघर्ष को और तेज किया। एस.एन. मुखर्जी अपनी

किताब *सर विलियम जोन्स: ए स्टडी इन एटीन्थ सेंचुरी ब्रिटिश एटीट्यूड टू इंडिया* में लिखते हैं, "इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिक राष्ट्रवाद ब्रिटिश सरकार के द्वारा विकसित की जा रही नई सामाजिक व्यवस्था का परिणाम था। लेकिन भारत अतीत पर निर्भर हुए बगैर शायद ही पश्चिम द्वारा खड़ी की जा रही सांस्कृतिक चुनौती का सामना कर सकता था। यह जोन्स और उसके द्वारा स्थापित सोसायटी ही थी जिसने यह खोजा कि भारत में भी प्राचीन विश्व की सभ्यताओं की टक्कर में एक सभ्यता मौजूद थी।"[12] राष्ट्र के उदय और राष्ट्रीयता के बनने की प्रक्रिया पर जॉन स्टुअर्ट मिल ने हाब्सन को उद्धृत करते हुए लिखा है:

> मानव-जाति का कोई हिस्सा एक राष्ट्र की संस्थापना की बात कह सकता है यदि उसके लोग उस समान अनुभूति के आधार पर जुड़ते हैं जिसका उनमें और दूसरों में अस्तित्व ही नहीं होता है। राष्ट्रवाद की यह भावना विभिन्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है। कभी-कभी यह बात नस्ल और वंश की अस्मिता के प्रभाव के कारण होती है। भाषा-समुदाय और धर्म-समुदाय का इसमें गहरा योगदान होता है। भौगोलिक सीमाएं भी उन्हीं कारणों में से हैं। लेकिन पूर्व विद्यमान राजनीतिक वृत्तांत, राष्ट्रीय इतिहास पर कब्जा और गौरवपूर्ण समुदाय की स्मृति, सामूहिक अभिमान और अपमान, आनंद और दुख, अतीत में घटी समान घटनाएँ सबसे शक्तिशाली कारण होते हैं।[13]

परन्तु जो कारण किसी राष्ट्र के बनने के लिए उत्तरदायी होते हैं, वे सदैव वैसे ही बने रहेंगे जैसे वे राष्ट्र के बनने की प्रक्रिया में थे, ऐसा संभव नहीं है। इन कारणों में होने वाले बदलावों के साथ राष्ट्र की सीमा और

उसकी रूपरेखा में भी परिवर्तन हो जाता है। इस सन्दर्भ में किशन पटनायक लिखते हैं, "दुनिया के इतिहास में राष्ट्र बनते हैं, बिगड़ते हैं, सीमाएं बदलती हैं। आज के राष्ट्र हजार साल बाद ज्यों के त्यों नहीं रहेंगे। भारत भी वैसा नहीं रहेगा, जैसा आज है। लेकिन किसी काल-खंड में एक समूह का आचरण आगे के परिवर्तनों को प्रभावित करता है। इसलिए सवाल वर्तमान का होता है – हम चुनौतियों का मुक़ाबला किस तरह से कर रहे हैं? टूट रहे हैं या जुटे हुए हैं?"[14] यानी राष्ट्र कोई ऐसी अस्मिता नहीं है जो निरपेक्ष व निर्विवाद हो। सीमाएं और राष्ट्र की संवेदनाओं का बदलाव होना एक समय सापेक्ष विचार है। राष्ट्रीयता की मांग के जो तत्व हैं, चाहे वे भौगोलिक सीमाएं हो या फिर भाषा समुदाय हो या राष्ट्रीय इतिहास पर कब्जेदारी, इन्हीं के आलोक में हम किसी राष्ट्र की अलग पहचान को आसानी से समझ सकते हैं। सुधीर रंजन के अनुसार, "भारत में राष्ट्रवाद का उदय, दूसरे, पूर्वी देशों के समान, बहुत हद तक यूरोपीय श्रेष्ठता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। राष्ट्रवाद यह सच है, सिद्धांत रूप में यूरोपीय आविष्कार है, जिसे पूर्वी देशों ने पश्चिमी भौतिक प्रगति के महत्व को स्वीकार करते हुए अपनाया। लेकिन समान रूप से उन्होंने पश्चिमी वर्चस्व का प्रतिकार भी किया। प्रगति सबको स्वीकार होती है लेकिन पराधीन रहकर नहीं। व्यक्तियों से अधिक यह बात जनसमूहों पर लागू होती है।"[15]

इसलिए राष्ट्र के साथ अपने जुड़ाव को देखना इस बात पर भी निर्भर करता है कि राष्ट्र के भीतर उस समुदाय की जगह क्या है। वह शासक के रूप में है या शासित के रूप में। इसलिए अपने एक अन्य

कथन में सुधीर रंजन भारतीय राष्ट्रवाद को अलग तरह से व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं कि "पश्चिम में राष्ट्रवाद एक राजनीतिक तथ्य है जो जमींदारी आधारित सामंतवाद के विरुद्ध संघर्ष के परिणाम के रूप में आया। भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का प्रथम संदर्भ सांस्कृतिक है राजनीतिक राष्ट्रवाद का उदय बाद में हुआ।"[16] वैसे गौर करें तो अभी का भारतीय राष्ट्र उस तौर पर ब्रिटिश काल में भी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के आधार पर नहीं बना था बल्कि जो भारत के प्रमुख हिन्दी भाषी राज्य थे वहीं यह उपजा और हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान जैसे नारे के रूप में सामने आया। इसलिए राष्ट्र की यह अस्मिता कई मायने में धार्मिक अस्मिता की सीमा तक चली जाती है। इसलिए इस राष्ट्रीय विचार के साथ भारत के अन्दर ही विभिन्न जातीय और आदिवासी समूहों के संबंध समस्याग्रस्त रहे हैं।

अंग्रेजों से आज़ादी की लड़ाई के वक्त डॉ. बी. आर. आंबेडकर ने इस वर्णवादी समाज को व्यापक राष्ट्रीय अस्मिता के लिए खतरा माना। इसलिए आंबेडकर भी ऐसी किसी राष्ट्रीयता के पक्ष में नहीं थे जहाँ उसी राष्ट्र के लोगों के साथ सामान व्यवहार न किया जाता हो। कँवल भारती लिखते हैं,

> वास्तव में दलित और ब्राह्मण न तो दो अलग-अलग राष्ट्र हैं न दो अलग-नस्लें। यह अलग-अलग वर्ण और जातियाँ हैं। इसलिए दोनों के बीच जो सामाजिक अलगाव है, जो ऊंच-नीच का भेदभाव है, उसका कोई तर्कसंगत और वैज्ञानिक आधार नहीं है। यह पूरी तरह से अमानवीय व्यवस्था है, जो ब्राह्मण ने धर्म के आधार पर खड़ी की है। ब्राह्मण ने इसे धर्म-संहिता का रूप दिया। इस धर्म-संहिता में, जो वर्ण व्यवस्था के नाम से प्रचलित है, ब्राह्मण सर्वोपरि है, दूसरे स्थान पर क्षत्रिय है और तीसरे

> स्थान पर वैश्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विज कहा जाता है। द्विज का अर्थ है दूसरा जन्म। यह दूसरा जन्म 'उपनयन' संस्कार को कहा गया है। उपनयन संस्कार, अर्थात जनेऊ संस्कार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का होता है। इसी उपनयन अर्थात दूसरे जन्म के कारण उन्हें द्विज कहा जाता है। चौथे स्थान पर अर्थात निम्न अवस्था में शूद्र आते हैं। इनका उपनयन संस्कार नहीं होता। इसलिए ये दूसरे जन्म से वंचित हैं। वर्ण व्यवस्था में इनका कार्य और मुख्य धर्म द्विजों की ही सेवा करना है। पढ़ना-लिखना, स्वतंत्र होकर व्यवसाय करना, धन अर्जित करना और शस्त्र धारण करना इनके लिए प्रतिबंधित है।[17]

इस तरह जाति की अस्मिता और राष्ट्र की अस्मिता में बुनियादी फर्क है। एक राष्ट्र के भीतर कई तरह के भेदभावों ने जातीय अस्मिता के संघर्ष को भिन्न तरह से प्रस्तुत किया है। जातीय अस्मिता के अलावा एक राष्ट्र के भीतर और भी कई तरह की अस्मिताएं होती हैं इस रूप में हम आदिवासी समाज को देख सकते हैं। डॉ. प्रभाकर सिंह लिखते हैं

> राष्ट्रवाद की संकल्पना में आदिवासी समाज की विवेचना करना भी जरूरी है। हम जिसे भारतीय राष्ट्रवाद कहते हैं वह औपनिवेशिक मानसिकता से पोषित और ग्रसित राष्ट्रवाद है, पूंजीवादी राष्ट्रवाद। असल में पूंजीवादी राष्ट्रवाद की ही देन है एक भाषा, एक राष्ट्र एक संस्कृति और एक धर्म। भारत बहुभाषी और सांस्कृतिक बहुलता का राष्ट्र है। यहाँ कई धर्म, भाषाएँ और संस्कृति मिलकर भारतीय राष्ट्र की अवधारणा को पूरी करती हैं। पूंजीवादी राष्ट्रवाद, और अब तो इससे भी

> ज्यादा खतरनाक सांस्कृतिक राष्ट्रवाद है जो धर्म और संस्कृति के नाम पर 'हिन्दू धर्म' के कट्टर स्वरूप का विस्तार कर रहा है। आदिवासियों की सांस्कृतिक भाषायी और प्राकृतिक शक्ति को उनसे छीनकर उनकी अस्मिता को खत्म करने की साजिश को पहचानना जरूरी है। तभी आदिवासी विमर्श और संघर्ष की सफलता होगी।[18]

इस तरह देखें तो आदिवासी अस्मिता पर ज्यादा बड़ा हमला पूंजीवाद का है क्योंकि यह उनके जल, जंगल, जमीन को लूट कर उनकी सांस्कृतिक संरचना को नष्ट कर रहा है। उनकी अपनी अस्मिता के साथ उनकी संस्कृति की पहचान जुड़ी हुई है और इसका बचना तभी संभव है जब जल-जंगल-जमीन पर होने वाले हमले को रोका जाए। विकास के नाम पर ऐसे समुदायों को तबाह करने का प्रयास किया जा रहा है जो एक भिन्न तरह की संस्कृति को अपने में समाहित किए हुए हैं।

इस तरह ही राष्ट्रीयता के उलट, एक बहुलतावादी लोकतंत्र की अवधारणा भी रही है। के. पी. जायसवाल लिखते हैं कि "संविधान और सामाजिक प्रगति पर किसी प्रजाति विशेष का अधिकार नहीं है। मैं इस बेतुकी बुद्धिमत्ता का समर्थक नहीं हूँ जिसका यह उपदेश है कि कुछ लोगों में ही राजनीतिक ज्ञान मौजूद होता है। राजनीतिक और संवैधानिक प्रगति परिस्थितियों एवं मानवीय शक्तियों की उपज होती हैं।"[19] जायसवाल किसी एक अस्मिता या एक परंपरा को नकारते हुए सभी समुदायों की बुद्धिमता की वकालत करते हैं। यद्यपि यह एक यूनिवर्सलाइजेशन है पर यह ऐसी अस्मिताओं को मजबूत करने की दलील भी प्रस्तुत करता है जिन्हें पिछड़ा कहा जाता है। इसी संदर्भ में श्यामचरण दुबे ने लिखा है, "भारत

की सांस्कृतिक चेतना विशिष्ट प्रबुद्ध वर्ग के पूर्वग्रह से पीड़ित है, वह धर्मशास्त्रों में चित्रित भारतीय संस्कृति के सार तत्व तथा प्रधान विषय वस्तु को उभारती है। इस प्रकार से कुछ भी प्रदर्शित किया जाता है, वह बहुत अंशों में भारतीय संस्कृति का पुस्तकीय दृष्टिकोण होता है। यह वह आदर्श संस्कृति है जिसकी नगरीय पढ़े लिखे लोग कल्पना करते हैं, वह जनता की यथार्थ संस्कृति नहीं है।"[20] दूबे यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि लोक का ज्ञान और ज्ञान की दुनिया दोनों दो मायने रखते हैं। एक का दूसरे के साथ कोई संबंध स्थापित नहीं होता। इसलिए राष्ट्र की अस्मिता के भीतर कई तरह की अस्मिताएं पनप रही होती हैं और कई की मौजूदगी होती है। इस सब के बावजूद राष्ट्र ने दुनिया भर में व्यापक राष्ट्रीय अस्मिता के रूप में पहचान बनाई है। इस तरह से यह समझा जा सकता है कि राष्ट्र की भावना का उभार पूरी दुनिया में बहुत ही कम समय में मजबूत अस्मिता के रूप में उभर कर सामने आया।

अस्मिता, धर्म और जाति

भारतीय समाज विभिन्न जाति, धर्मों और समुदायों में विभाजित है। यहां प्रचलित धर्मों में जातिगत विभाजन भी मौजूद है। हिन्दू धर्म में रूढ़िग्रस्त जातिगत विभाजन पुराना और बहुत ही कड़े रूप में मौजूद है, लेकिन इस विभाजन के अनेक पहलू कमोबेश सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में पाए जाते हैं। जातीय समाज के सबसे निचले पायदान पर स्थित कामगार जातियाँ अपनी अस्मिता के प्रति सजग

और जागरूक हुई हैं और उन्होंने वर्चस्व के संघर्ष में अपनी जगह हासिल करने की जद्दोजहद शुरू कर दी है जिससे ऊंची जातियों के शक्ति और संसाधनों पर कब्जे को चुनौती मिली है।

जातियों का ढांचा ऐसा है कि वे मोटे तौर पर समाज और व्यक्ति के जीवन को निर्देशित और निर्धारित करती हैं। इस तरह, पारिवारिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के माध्यम से व्यक्ति अपनी अस्मिता को धारण करता जाता है। शोषक जातियाँ प्राय: उत्पादन से नहीं जुड़ी होतीं पर उत्पादन के साधनों और संसाधनों पर उनका कब्जा होता है। मिथक और परंपराएं इस कब्जे को न्यायोचित और जरूरी ठहराने के काम आती हैं। दूसरी तरफ उत्पादन से जुड़ी कामगार जातियों को सांस्कृतिक मूल्यों के साथ-साथ उत्पादन की पद्धति भी परम्पराओं से ही हासिल होती है। इस प्रकार किसी व्यक्ति के अस्तित्व निर्माण की प्रक्रिया में समाज बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

लेकिन जैसा हम देख चुके हैं, अस्मिता कोई एकआयामी निर्मिति नहीं हैं। हिन्दू धर्म की अस्मिता के भीतर जाति का होना एक अलग तरह की पहचान को पैदा करता है और यह पहचान भिन्न तरह की पहचानों के प्रति असमानता और घृणा को अपने में समेटे हुए है। वरिष्ठ आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि "हिन्दू समाज के सवर्ण समुदाय ने ऐसे लोकमत का निर्माण कर रखा है, जिसमें दलितों के प्रति उपेक्षा या विरोध नहीं बल्कि घृणा के भाव भी मौजूद हैं।"[21] यही घृणा उन्हें अपनी अलग पहचान और संघर्ष के लिए प्रेरित भी करती है। दलितों के प्रति जो उपेक्षा का भाव रहा है उसने वंचित तबकों और

उपेक्षितों को एक साथ होने की प्रेरणा भी दी है। इस तरह, भारतीय समाज के संदर्भ में जाति व्यवस्था की स्थिति और उसके विरोध की प्रक्रिया ने अस्मिताओं के विमर्श के लिए आधार का काम किया है। डॉ. प्रवीण कुमार लिखते हैं कि अगर यह कहा जाए कि

> भारत में अस्मिता विमर्श व चिंतन वर्ण-जाति की कोख से निकल कर आया है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। अस्मिता व्यक्तिगत होने के साथ सामुदायिक भी होती है और राष्ट्रीय भी। अर्थात अस्मिता को हमेशा संदर्भ, परिप्रेक्ष्य एवं सामाजिक तत्व की समबद्धता के साथ ही समझा जा सकता है। वह व्यक्ति के साथ-साथ उसके संपूर्ण जीवन चक्र से जुड़ी होती है। स्वयं को जानने और समाज के साथ अपने संबंधों की परख से अस्मिता की निर्मिति होती है। इसी से आत्मसम्मान, गरिमा, न्याय, समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व आदि भावनाओं का सृजन होता है और अस्मिता विमर्श की अवधारणा व्यापकता और वैचारिकी को स्पष्ट करती है।[22]

अस्मिता के अन्य विमर्शों मसलन आदिवासी व स्त्री अस्मिता के संदर्भ में भी गरिमा, न्याय, समता और स्वतंत्रता ने ही धुरी का काम किया है। जातीय अस्मिता के विमर्श ने वर्चस्ववादी जातीय, ब्राह्मणवादी मूल्यों के खिलाफ लोकतांत्रिक समाज में बदले हुए मूल्यों के साथ अपने को खड़ा किया। इस क्रम में, जो आलोचनाएं पेश की गईं, उनसे अन्य अस्मिताओं के विमर्शों को आगे बढ़ाने का भी आधार मिला। मिसाल के लिए, दलितों को ऊंची जातियों के अधीन किया गया और जातियों की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए स्त्री-पुरुष संबंधों को कठोरता से नियंत्रित किया गया और स्त्रियों पर बहुत ही सख्त पहरेदारी

और पाबंदियां थोपी गईं। यह नियम बनाए गए कि वे घर से बाहर न जाएं, अपने पति और परिवार संस्था के भीतर उनके कार्यों को तय कर दिया गया, उनको पुरुष के अधीन माना गया। उन्हें केवल भोग की वस्तु के रूप में देखा गया पुरुष के वंश को आगे बढ़ाने वाला समझा गया। जातीय सोपान पर उनकी जगह शूद्रों के नीचे मानी गई। इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों का शोषण दोहरे रूप में हुआ। जहाँ स्त्री दलित होने के कारण शोषण झेलती है, वहीं वह स्त्री होने के कारण भी उत्पीड़ित होती है। इस तरह जातीय अस्मिता के विमर्श के साथ ही, लैंगिक अस्मिता का विमर्श भी आगे बढ़ा. जाति व्यवस्था का विरोध, स्त्रियों की लैंगिक पराधीनता के विरोध का सहयात्री और एक दूसरे पर परस्पर निर्भर बन गया।

कँवल भारती जाति की तुलना रोम की दास प्रथा से करते हुए लिखते हैं कि

> रोम के कानून में दास को स्वतंत्र आदमी नहीं माना गया था, परंतु रोम के धर्म में वह उतना ही आज़ाद था, जितना कि दूसरे लोग थे। भारत में यह स्थिति नहीं है। यहाँ हिन्दू धर्म में दलितों को दास माना जाता है और उन्हें समान अधिकार प्राप्त नहीं है। परंतु भारत के कानून में वे स्वतंत्र मानव हैं और उन्हें समान अधिकार हासिल हैं। भारत में धर्म को कानून से ऊपर माना जाता है। यहाँ हिन्दू अपने धर्म के आचरण में कानून की परवाह नहीं करते हैं। यही कारण है कि यहाँ कानूनन भेदभाव समाप्त होने के बावजूद धर्म का शासन कायम है जो भेदभाव को स्वीकृति प्रदान करता है।[23]

इसलिए हम देखते हैं कि जब डॉ. आंबेडकर ने दलित समाज के उत्थान और जाति के खात्मे को राजनैतिक पटल पर रखा तो उन्होंने हिन्दू धर्म से बाहर आने की बात कही। क्योंकि धर्म के मूल में वर्ण

व्यवस्था थी और जाति इसका हिस्सा थी। ऐसे में सुधार की कोई गुंजाइश नहीं थी बल्कि धर्म को खारिज करना ही एक विकल्प बनता था। हिन्दू धर्म के जो वाहक थे वे तो अब दलित कही जाने वाली जातियों को अपना हिस्सा मानते ही नहीं थे। कँवल भारती इसके लिए 'सनातनी हिंदू' ऐनापूरे शास्त्री का उदाहरण देते हैं, जिन्होंने कहा था कि "जिस तरह मनुष्य जूता पहनता है, पर जूता शरीर का अंग नहीं है, उसी तरह हिन्दू समाज अछूतों का उपयोग करते हैं, पर वे उनके अंग नहीं हैं। यह उपमा सचमुच बहुत सटीक है।"[24] इस तरह से हम देखते हैं कि धर्म के साथ जुड़ी हुई जाति उसकी खामी नहीं थी, बल्कि समाज के संचालन और व्यवस्था का अभिन्न हिस्सा थी।

इस व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह और प्रतिरोध आरंभ से ही रहा है, लेकिन अधिक मुखर और संगठित रूप में यह तब सामने आया जब आधुनिक समाज में लोकतंत्र और बराबरी के मूल्य एक शासनकारी संभावना के रूप में स्थापित हुए। अस्मिता के चिंतन को इससे बल मिला।

अस्मिता और राजनीति

अस्मितामूलक चिंतन ने आज के समय और समाज की राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। अस्मितामूलक चिंतन को स्थापित करने में जहां उत्तर-आधुनिकतावाद ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई वहीं

इसने अस्मिता को एक नए शक्ति केंद्र में स्थापित किया है। अस्मिता विमर्श असल में शक्ति-विमर्श है। इसमें हाशिए से केंद्र में आने की जद्दोजहद शामिल है। अस्मिता की राजनीति इसी शक्ति-विमर्श के इर्द-गिर्द ही घूमती है। आज अस्मिता की राजनीति का उद्देश्य इस समाज या सत्ता को आमूलचूल रूप से बदलना नहीं बल्कि इस शक्ति संयोजन में अपने हिस्से के लिए संघर्ष की लड़ाई भर रह गई है। अस्मिता की राजनीति करने वाले लोग इस सत्ता शक्ति में अपना हिस्सा, अपनी भागीदारी सुनिश्चित करना चाहते हैं। वे इस सत्ता के परिवर्तन की लड़ाई नहीं लड़ रहे हैं। दरअसल अस्मितामूलक चिंतन जब खड़ा हुआ तो इसकी लड़ाई धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक सभी धरातलों पर व्यवस्था के हर शोषणकारी तंत्रों से थी। परंतु धीरे-धीरे इस अस्मितामूलक चिंतन को चुनावी प्रणाली ने वोट बैंक के समीकरण में बदल दिया है, जिसका परिणाम हम देखते हैं कि आज शोषक वर्ग तरह-तरह के प्रलोभन देकर इन अस्मिता से जुड़े नेताओं और लोगों के इस्तेमाल अपने फायदे के लिए करते हैं। एक रेडिकल दृष्टिकोण के रूप में उभरा अस्मितामूलक चिंतन इस समाज में एक राजनीतिक हस्तक्षेप कर सामाजिक परिवर्तन की लड़ाई को तेज़ कर सकता था, लेकिन अब उसकी राजनीतिक धार को कुंद करके मुख्यत: उसे यथा स्थिति की सेवा में लगा दिया गया है।

लोकतांत्रिक व्यवस्था के कारगर होने के लिए जरूरी था कि एक राष्ट्र के भीतर सबको समानता और भागीदारी का हक मिले। औपचारिक प्रावधानों के जरिए वंचित तबकों को उनका हक़ दिया गया।

लेकिन सामाजिक सत्ता संबंधों और व्यावहारिक राजनीति ने इन प्रावधानों को प्राय: नकारा बनाने का ही काम किया है। इसके बावजूद, संवैधानिक प्रावधानों और समय-समय पर चले राजनीतिक आंदोलनों ने ऐसी चेतना तो पैदा की ही कि भेदभाव को एक अपराध के रूप में देखा जाने लगा. राजनीति सिर्फ उच्च वर्गों की ही नहीं रह गई बल्कि समान भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए दलित, आदिवासी और स्त्रियां सामने आने लगे। इसने लोगों की सोच को बदला। सत्ता में स्थापित वर्ग जहां अपने हितों के साथ काम कर रहा था, वहीं अन्य अस्मिताओं को जगह मिलने के कारण उनके भी हित कमोबेश सामने आने लगे। कँवल भारती लिखते हैं कि "दलित विमर्श के केंद्र में वे सारे सवाल हैं, जिनका संबंध भेदभाव से है, चाहे यह भेदभाव जाति के आधार पर हो, रंग के आधार पर हो, नस्ल के आधार पर हो, लिंग के आधार पर हो या फिर धर्म के ही आधार पर क्यों न हो।"[25] यानी यह एकता इसलिए भी सैद्धांतिक तौर पर बन पाई क्योंकि उनके ऐतिहासिक अनुभव एक जैसे थे। जब उन्हें समानता का संवैधानिक अधिकार मिला तो उनकी लड़ाई और संघर्ष भी राजनैतिक तौर पर एक जुटता के साथ दिखे।

हालांकि यह ऐसा नहीं था कि इनकी कोई सार्वभौमिक एकजुटता थी। एक तरफ सत्ताधारी वर्ग अपने तरीके से इन्हें अलग-अलग करने की कोशिश करने लगा, दूसरे इनके आपस के अंतर्विरोध भी थे। मसलन स्त्री अस्मिता का सवाल दलित अस्मिता के साथ भी टकरा रहा था क्योंकि किसी भी जाति के भीतर स्त्री, अपनी जाति के पुरुषों से भी शोषित हो रही थी। इस तरह बढ़ती हुई चेतना, धीरे-धीरे

अस्मिताओं के बीच एकजुटता तो पैदा कर ही रही है, उनके संबंधों की जटिलताओं को भी सामने रख रही है।

अस्मिता और समाज

व्यक्ति जब संसार में आता है तो वह पाता है कि वह एक परिवार का हिस्सा है। इस परिवार से उसकी पहचान जुड़ी होती है। उसकी अस्मिता की निर्मिति इस परिवार से होना शुरू हो जाती है। लिंग, जाति, धर्म आधारित अस्मिताओं का निर्धारण परिवार से शुरू हो जाता है। बचपन से ही मनुष्य की अस्मिता तय हो जाती है। उसी अस्मिता के फलस्वरूप किसी व्यक्ति का विकास होता है। यह समाज व्यक्ति के विकास और उसकी अस्मिता को प्रभावित करता है। परिवार ही वह पहली इकाई है जहां बच्चा पहली बार यह समझता है कि 'मैं कौन हूँ'। वहाँ उसे परिवार के मूल्य परंपरा स्वरूप मिलते हैं। यह परिवार भी किसी न किसी समुदाय, जाति, धर्म से जुड़ा होता है। इस समुदाय, जाति, धर्म से मिलकर ही समाज बनता है। यानि परिवार इसी समाज का हिस्सा होता है। इसी समाज से जुड़ा होता है। यह समाज व्यक्ति की अस्मिता के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। दुनिया के सभी समाज अपनी एक अलग पहचान बनाते हुए अलग-अलग रस्मों रिवाजों का पालन करते हैं। इसलिए किसी व्यक्ति की अस्मिता का निर्माण व्यापक सामाजिक संदर्भ से होता है। कोई व्यक्ति जैसा है या उसने जो भी प्राप्त किया है। वह उसे

समाज से मिला है। कोई व्यक्ति जिन अनुभवों, विचारों और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करता है उनके निर्माण में भी उसके समय और समाज की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिए किसी व्यक्ति की अस्मिता की समझ के लिए व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ से उसके संबंध की समझ जरूरी है यानी व्यक्ति के व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ से उसके संबंध की पहचान भी होती है।

इस तरह, हम पाते हैं कि किसी व्यक्ति की अस्मिता का निर्धारण करने वाले कई कारक होते हैं और व्यक्ति अपनी अस्मिता को भी कई तरह से देखने और उसे व्याख्यायित करने का प्रयास करता है। इसमें अस्मिता अपने इतिहास की तलाश से निर्मित होती है, इस बात से भी उसका सम्बन्ध होता है कि किसी अस्मिता को इतिहास में कैसे देखा जाता रहा है। अस्मिता को समझने में मिथकों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है। यह मिथक किसी अस्मिता को गढ़ने में एक जरूरी भूमिका का निर्वाह करते है जहाँ शक्तिशाली अस्मिता अपनी शक्ति और इतिहास में अपनी ताकत को इन मिथकों से प्रदर्शित करती है वहीं यह दमित अस्मिताओं को दबाने के लिए भी मिथकों का निर्माण करती है ताकि वह उन दमित अस्मिताओं पर अपना वर्चस्व कायम रख सके। इसके विपरीत दमित अस्मिताएँ वर्चस्वशाली मिथकों का खंडन कर अपने नए मिथकों का निर्माण करती है, जिनमें वह अपने संघर्षों को दर्शाती है। यह मिथ निर्माण की प्रक्रिया भी किसी व्यक्ति की अस्मिता का निर्माण करते हैं। इसके अलावा राष्ट्र की अस्मिता भी किसी व्यक्ति विशेष की अस्मिता के बनने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। किसी राष्ट्र विशेष में किसी

व्यक्ति विशेष को कैसे जाना जाता है, यह भी व्यक्ति की अस्मिता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। साथ ही राष्ट्र की स्वयं की अस्मिता का बनना भी अस्मिता निर्माण की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इसके अतिरिक्त धर्म, जाति और समाज भी अस्मिता के निर्धारण में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं क्योंकि कोई व्यक्ति सबसे पहले इन्हीं तीनों रूपों के माध्यम से अपनी पहचान करता है।

संदर्भ सूची

[1]ओमप्रकाश केजरीवाल, *एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल एंड द डिस्कवरी ऑफ इंडियाज़ पास्ट*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1988, पृ.11.

[2] ई. एच. कार, *व्हाट इज हिस्ट्री*, पेंगुइन बुक्स, लंदन, 1964, पृ.36.

[3] जोतिबा फुले, *सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑफ जोतिबा फुले*, पृ.27.

[4] सत्यप्रकाश मिश्र (संपा.), *बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998, पृ.49.

[5] वही, पृ.48.

[6] रोमिला थापर, *आर्य, मिथक और यथार्थ*, सहमत, नई दिल्ली, 1995, पृ.22.

[7]एस.एन. मुखर्जी, *सर विलियम जोन्स: ए स्टडी इन एटीन्थ सेंचुरी ब्रिटिश एटीट्यूड्स टू इंडिया*, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1968, पृ.104.

[8] कँवल भारती, *दलित विमर्श की भूमिका*, साहित्य उपक्रम, 2012, पृ.18.

[9] जय प्रकाश कर्दम, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' व डॉ. देवेंद्र चौबे द्वारा संपादित *चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य* में, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, 2010, पृ.35.

[10]ओमप्रकाश केजरीवाल, वही, पृ.87.

[11] सुधीर रंजन सिंह, *हिन्दी समुदाय और राष्ट्रवाद*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली,2009, पृ.16.

[12] एस.एन. मुखर्जी, वही, पृ.140.

[13] जे.एस. मिल, जे.ए. हाब्सन की *इंपीरियलिज़्म* में उद्धृत, पृ.3.

[14] किशन पटनायक, *विकल्पहीन नहीं है दुनिया*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृ.206.

[15] सुधीर रंजन सिंह, वही, पृ.16.

[16] वही.

[17] कँवल भारती, वही, पृ.15-16.

[18] डॉ. प्रभाकर सिंह, अनुज लुगुन द्वारा संपादित *समय से संवाद: 6, आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध* में, अनन्य प्रकाशन, 2015, पृ.62-63.

[19] के.पी. जायसवाल, *हिंदू पॉलिटि : ए कॉन्सिटीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया इन हिंदू टाइम्स* (दूसरा खंड), हॉस्टिंग्स्ट, 1924, पृ.210.

[20] श्यामचरण दुबे, *परंपरा, इतिहासबोध और संस्कृति*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992, पृ.71.

[21] मैनेजर पाण्डेय, डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' व डॉ. देवेंद्र चौबे द्वारा संपादित *चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य* में, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, 2010, पृ.103.

[22] डॉ. प्रवीण कुमार, 'समकालीन अस्मिता विमर्श और डॉ. अम्बेडकर का राष्ट्रीय चिंतन', *नेशनल दस्तक*, 11 जून 2016, ऑनलाइन उपलब्ध: http://www.nationaldastak.com/news-view/view/opinion-about-ambedkar-at-national-concerns/ आखिरी बार देखा गया 12 जुलाई 2017.

[23] कँवल भारती, वही, पृ.23.

[24] वही, पृ.26.
[25] वही, पृ.17.

अध्याय तीन

अस्मितामूलक चिंतन और प्रमुख कवियों की काव्यदृष्टि

साहित्य के विभिन्न आंदोलनों को साहित्यकारों और आलोचकों से वैचारिक आधार मिलता रहा है। उदाहरण के रूप में, सुमित्रानंदन पंत ने *पल्लव* की भूमिका लिखकर छायावाद को वैचारिक आधार दिया। उन्होंने 1920 से 36 के बीच में लिखी जा रही साहित्य रचनाओं की प्रवृत्तियों को एक वैचारिक ढांचे में बांधा और उसे एक साहित्यिक आंदोलन के रूप में रेखांकित किया। इसी तरह अज्ञेय सप्तकों की भूमिका में प्रयोगवाद को एक सैद्धांतिक आधार देते हैं। समकालीन कविता तक आते-आते इस तरह के साहित्यिक आंदोलन गायब होने लगे। आपातकाल के बाद की कविता को समकालीन कविता नाम दिया गया लेकिन उसे वैचारिक आधार न मिल सका। हर काव्यांदोलन में लिखी गई कविताओं की तरह इस समयावधि में लिखी कविताओं की भी कुछ प्रमुख प्रवृत्तियां थीं, लेकिन यह कोई काव्यांदोलन नहीं था जिसका कोई ठोस वैचारिक आधार हो।

1980 का दशक एक साथ कई बदलाव लेकर आया। ये बदलाव एक ही साथ राजनीति, अर्थव्यवस्था, संस्कृति, साहित्य, विचार, समाज आदि अनेक क्षेत्रों में आए। मुख्य रूप से इन बदलावों के

तहत राजनीति में दलीय गठबंधन की राजनीति की शुरुआत और सांप्रदायिक फासीवाद का मुखर उत्थान, अर्थव्यवस्था में भूमंडलीकरण की नीतियों की शुरुआत, संस्कृति में नई प्रौद्योगिकी के आने के साथ टीवी, सिनेमा और प्रिंट मीडिया में अमेरिकी साम्राज्यवादी संस्कृति का व्यापक विस्तार हुआ। इन सभी बदलावों ने 90 के दशक के लिए आधारभूमि तैयार की, जिसकी दस्तक साहित्य में सुनाई देने लगी। 80 के दशक में ही विमर्शों की आवाज़ सुनाई देने लगी। 90 तक आते-आते यह और मुखर और साफ हो गई। हिंदी साहित्य में विमर्शों की शुरुआत और उन पर आधारित लेखन, विचारों में समाजवाद और मार्क्सवाद के बरअक्स और उसके समांतर उत्तर-आधुनिक विचार या फिर विचारधारा विहीन विचारों की दावेदारी और समाज में जातीय और सांप्रदायिक गोलबंदियां ठोस रूप में शक्ल लेने लगीं।

अस्मिता पर आधारित लेखन ने जाति, लिंग और अन्य पहचानों पर आधारित अभिव्यक्ति को स्वर दिए। उनके अपने नजरिए को पेश किया, उनकी अपनी आकांक्षाओं, आशाओं, हताशाओं और संघर्षों की अपेक्षाओं को आवाज दी। इसने न सिर्फ साहित्य को, बल्कि साहित्य को परखने, उसको विश्लेषित करने के मापदंडों की नई जरूरतों को भी पैदा किया। इस प्रवृत्ति को आलोचनाओं का भी सामना करना पड़ा, जैसे कि कवि राजेश जोशी कहते हैं, "हिंदी की स्त्री कवियों ने स्त्री होने के संघर्ष को अपनी कविता का कटघरा बना लिया है।"[1] अस्मिता विमर्श की शुरुआत भेदभाव की छटपटाहट से हुई लेकिन अस्मिता के उभार ने स्वयं को जातीय, धार्मिक, लैंगिक अस्मिता के कटघरे में कैद कर लिया।

समकालीन समय में अस्मिता के सवाल का राजनैतिक पहलू मजबूती से सामने आया। इसलिए अस्मितामूलक चिंतन न केवल अकादमिक रूप में बल्कि साहित्य के केंद्र में भी आया और उसने अपनी ओर ध्यान आकर्षित किया। भारत की लगभग सभी साहित्यिक भाषाओं में अस्मितामूलक चिंतन उभर कर सामने आया। देर से ही सही हिंदी साहित्य भी इसके असर से अछूता नहीं रह सका। हिंदी साहित्य में 80 के दशक के अंत और 90 के दशक की शुरुआत से तेजी के साथ अस्मितामूलक साहित्य उभर कर सामने आया। इसी दौर में, अस्मिता पर आधारित रचनाकर्म के साथ-साथ सैद्धांतिक लेखन भी शुरू होने लगा। जिसमें स्वयं को दर्ज कराने की तीव्रता थी और अब तक के साहित्य के इतिहास और प्रतिमानों से बाहर रहने का दंश भी था। अलग-अलग लोगों ने इसे सैद्धांतिक आधार देने की कोशिश की, इसे उत्तर-आधुनिकता की बहस से जोड़ कर भी देखा गया, जिसकी मुख्य स्थापना देते हुए अरुण कमल कहते हैं,

> अब वर्ग जैसी कोई सर्वव्यापी अवधारणा नहीं रही यानी आर्थिक आधार पर समाज के विकास को नहीं देखना चाहिए। दूसरे कारक ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। यानी वर्ग नहीं, नस्ल, धर्म, जाति, लिंगभेद, क्षेत्र और अंततः व्यक्ति-व्यक्ति। इसलिए राजनीति अब इन्हीं कारकों की होगी। लोग कहते हैं कि हम तो अभी आधुनिक भी नहीं हुए, उत्तर आधुनिक कैसे हो गए? बात यह है कि जहाँ कहीं पूँजीवाद का नया अवतार है वहाँ-वहाँ उत्तर-आधुनिकता भी होगी। एक होगा तो दूसरा भी होगा। इसलिए भारत में अभी पूँजीवाद के अन्तर्गत उत्तर-आधुनिक राजनीति चल रही है अर्थात जाति, संप्रदाय, धर्म, क्षेत्र, लिंग भेद पर आधारित राजनीति। यानी 'राजनीति से कड़ी से कड़ी चल रही है' निराला के शब्दों में।[2]

अरुण कमल अस्मितामूलक चिंतन के आधार के रूप में उत्तर-आधुनिकता को देखते हैं। दरअसल बीसवीं सदी का अंतिम दशक आधुनिक भारतीय राजनीति, संस्कृति, धर्म, दर्शन, साहित्य और भाषा आदि के क्षेत्र में बड़ा बदलाव लेकर आया, जिसने भारतीय जनमानस को अपनी स्थिति के विषय में नए सिरे से सोचने पर मजबूर किया है। जिसे नामवर सिंह कहते हैं कि "एक नव उपनिवेशवाद अथवा नव साम्राज्यवाद में एक उत्तर-उपनिवेशवाद नाम की एक चीज चली है – पोस्टकॉलनिज्म। यह विचारधारा उन देशों के लिए खासतौर पर है जहाँ अब तक इतिहास में जो लोग हाशिए पर रहे हैं, राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयता के नाम पर सवर्ण लोगों ने इनकी आवाज को एक कम्बल के नीचे दबा रखा था।"[3] भारत में उत्तर-उपनिवेशवादी दौर में हाशिए की आवाजों को उत्तर-आधुनिकता से एक वैचारिक आधार मिलता है। जिससे यह अस्मितामूलक चिंतन उभर कर साहित्य और समाज में अपनी उपस्थिति दर्ज करते हैं।

हिंदी साहित्य और आलोचना में विभिन्न अस्मिताओं की अपेक्षित अभिव्यक्ति न होने के कारण इन अस्मिताओं से जुड़े साहित्यकारों ने स्वयं अपनी जिम्मेदारी को समझते हुए आगे आकर अपने जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति दी और यथासंभव उसकी सैद्धांतिकी को व्याख्यायित भी किया। समकालीन समय में दलित, स्त्री, और आदिवासी अस्मिता हिंदी साहित्य में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन्होंने साहित्य और आलोचना की पुरानी बनी-बनायी रूढ़ियों को तोड़कर नए मानदंड स्थापित किए। साहित्य में यह नए विमर्शों को लेकर आए। इसलिए कई मायनों में 90 के दशक का यह दौर विमर्शों का दौर कहा जा

सकता है। इस दौर के साहित्यकारों ने आलोचना के जरिए अपने साहित्य के वैचारिक आयाम खोजने और उन्हें व्याख्यायित करने की भी कोशिश की है। इस अध्याय में हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि वह वैचारिक धरातल क्या थे जिस पर खड़े होकर 90 के दशक के कवि कविता लेखन कर रहे थे और जिससे उनकी काव्यदृष्टि विकसित हो रही थी। हम यह भी देखने की कोशिश करेंगे कि आलोचना के क्षेत्र में अस्मिता की अवधारणा को कवि-आलोचक किस तरह देखते हैं।

दलित काव्यदृष्टि की निर्मिति

अस्मिता के उदय को एक ऐतिहासिक और स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में ही देखा जाना चाहिए, क्योंकि अपने को संघर्ष के लिए तैयार करने वाले समुदाय सबसे पहले अपने होने की दावेदारी पेश करते हैं। इसके लिए वह इतिहास में अपने को और अपनी पहचान को तलाशते हैं। जैसा कि पुरुषोत्तम अग्रवाल का कहना है, "जो समाज सामाजिक-राजनीतिक सत्ता से वंचित कर दिया जाए, जिसकी नियति इतिहास-रथ के पहियों के नीचे पिसने तक ही सीमित रह गई हो, उसे पहचान-अस्मिता का संकट ज्यादा सालता है।"[4] इसलिए सभी हाशिए की अस्मिताओं ने अपनी पहचान अपनी अस्मिता के सवाल को मुख्य सवाल के रूप में उठाया। उन्होंने अपने होने की स्वीकार्यता को मुख्य मुद्दे के रूप में सामने रखा। जैसे कि भारत में जब से जाति अस्तित्व में आई दलित अपमान का जीवन बिताते रहे हैं, भले सभ्यता के निर्माण में उनका

अमूल्य योगदान रहा। परंतु भारतीय समाज में वह एक मनुष्य के रूप में अपने को पहचाने जाने के संकट से जूझते रहे हैं। उनके शोषण दमन को जातिवाद के सहारे कायम रखा गया। इस जाति व्यवस्था को संरचनात्मक और संस्थागत रूप देने के लिए, जैसा कि डॉ. कुसुम यदुलाल कहती हैं, "वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, वेदांत ग्रन्थों, स्मृतियों आदि धार्मिक ग्रन्थों में शूद्रों की सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाकर, उन्हें बलात अपमानित करने, शूद्र बनाने, हतोत्साहित करने और दुर्बल बनाने का प्रयास किया गया।"[5] धर्म के सहारे उन्हें उनकी स्थिति पर सोचने से भी रोका गया। उनके शोषण और दमन को धार्मिक जामा पहनाया गया। जिससे वह समाज में आर्थिक, शैक्षिक और सामाजिक रूप से पिछड़ गए। दलित विचारकों ने सबसे पहले अपने खिलाफ चल रहे इस षड्यंत्र की पहचान की और इसके खिलाफ आवाज बुलंद की। उन्होंने समाज में चल रही इस जातिव्यवस्था के खिलाफ मोर्चा खोला। बाबा साहब बी.आर. आंबेडकर और ज्योतिबा फुले से उन्हें वह वैचारिक आधार मिला जिसके सहारे वह अपने सम्मान और स्वाभिमान की लड़ाई लड़ सके। इन विचारकों ने दलितों-पिछड़ों को उनकी वस्तुगत स्थिति से अवगत कराया और हिन्दू धर्म और उसकी वर्ण-व्यवस्था को इस गैर-बराबरी के लिए जिम्मेदार ठहराया। जगदीश्वर चतुर्वेदी इस संदर्भ में लिखते हैं कि, "आम्बेडकर, ज्योतिबा फुले का महान योगदान है कि उन्होंने दलित को सामाजिक विमर्श और सामाजिक मुक्ति का प्रधान विषय बनाया।"[6] आंबेडकर और ज्योतिबा फुले जैसे समाज सुधारकों ने दलितों की मुक्ति को सामाजिक विमर्श के रूप में सामने लाने का महत्वपूर्ण प्रयास किया। इनके प्रयास स्वरूप दलित एक अस्मिता के रूप में संगठित हुए, एक पहचान के साथ सामने

आए। आधुनिक काल में लोकतांत्रिक व्यवस्था और उसके मूल्यों को भी समाज में जगह मिलने लगी जिसके चलते अस्मिता विमर्श और अस्मिता की राजनीति का विकास हुआ। लोकतांत्रिक मूल्यों की चेतना से लैस हाशिए पर मौजूद अस्मिताएं अपनी पहचान के लिए संघर्ष करने लगती हैं और इस व्यवस्था में अपने लिए सामाजिक रूप से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए तथा इसमें अपने लिए स्पेस की तलाश करने लगती हैं। इसी तौर पर दलित अस्मिता अपनी पहचान, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक स्पेस प्राप्त करने के लिए एक मजबूत दावेदार के रूप में सामने आती हैं। दलित अस्मिता के उभार और उसके दावे के संदर्भ में सुनीता रेड्डी का यह वक्तव्य ध्यातव्य है:

> हालांकि दलित कोई एक जाति नहीं है, एक बनाई हुई पहचान है। जो एक सच्चाई है, जिसे नकारा नहीं जा सकता। उभरती हुई दलित पहचान के बारे में हाल के अध्ययन से पता चलता है कि एक ऐसी नई अस्मिता का उभार हो रहा है जो अपनी वर्तमान दयनीय स्थिति को हमेशा के लिए स्वीकार नहीं करने जा रही है। इस बात के लिए वह दृढ़ है। आज जो सदियों से हाशिये के समुदाय के रूप में जीते आ रहे थे, दलित पहचान के रूप में संगठित हो रहे हैं। दलित के रूप में उन्हें एक साथ आने के लिए एक नई सम्मानजनक पहचान मिली है, जो उनके दोयम दर्जे के मनुष्य होने की उस प्रवृत्ति को नकारती है जो हिन्दू समाज व्यवस्था द्वारा लादी गई है।[7]

इस तरह दलित अस्मिता एक चेतना के रूप में सामने आती है जो अपने शोषण के सारे सांचों को तोड़कर सामाजिक समानता को सर्वोपरि रखती है। इसी से उनकी काव्यदृष्टि भी निर्मित होती है। दलित काव्य में

अभिव्यक्त इस काव्यदृष्टि ने उनके साहित्य को यथार्थ के धरातल पर ला खड़ा किया। जो यथार्थवाद प्रगतिवादी साहित्य में देखने को मिलता है, वह यथार्थवाद लेखक का स्वयं का भोगा हुआ नहीं था परंतु जो दलित साहित्य में या उनकी कविता में यथार्थ दिखता है वह उनका स्वयं का भोगा हुआ यथार्थ है जो उनके जीवन की सच्चाई है। इसी आधार पर दलित कविता अब एक ऐसी काव्यदृष्टि को सामने लाती है जो अब तक काव्य में मौजूद नहीं थी। यह वर्चस्व के खिलाफ प्रतिरोध की कविता के रूप में स्वयं को स्थापित करती है और वर्चस्व के सारे तंत्रों पर प्रहार करती है। दलित कवियों की काव्यदृष्टि में भारतीय जाति आधारित समाज व्यवस्था का प्रतिरोध मुख्य स्वर के रूप में आता है। इसके प्रभाव स्वरूप उनकी कविता में आत्मबोध और अस्मिताबोध दिखाई पड़ते हैं, जो उनकी काव्यदृष्टि को परम्परागत ढांचों से अलग करते हैं। दरअसल यह उनके अंदर जागी चेतना का ही परिणाम है जो सदियों से चले आ रहे शोषण का प्रतिकार करती है, साथ ही इसमें आने वाले सुंदर भविष्य के भी सपने है और यह सपने शिक्षा हासिल करके ही पूरे हो सकते हैं। शिक्षा से ही सम्मानपूर्ण जीवन हासिल किया जा सकता है। यह उनके काव्य में विशेष रूप से देखने को मिलता है। साथ ही बाबा साहब भीमराव आंबेडकर का संगठित रहने का आग्रह भी हमें दलित कवियों की काव्यदृष्टि में देखने को मिलता है।

दलित साहित्य की काव्यदृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया विभिन्न सवालों और अंतर्द्वंद्वों से होकर गुजरती है। सबसे अहम सवाल यह पैदा होता है कि दलित अस्मिता का साहित्य किसे माना जाए। जैसा कि पहले

भी बताया जा चुका है कि अस्मिता के रूप में एक होने या पहचाने जाने में दूसरे से अलग होने की प्रक्रिया भी शामिल होती है। बिना किसी से अलग हुए आप अपनी अलग पहचान या अस्मिता का दावा नहीं कर सकते। इसलिए अस्मिता के सवाल में राजनीतिक रूप से भेद होने के कारण दलित कवियों की काव्यदृष्टि में भी यह भेद दिखाई देते हैं। दलित साहित्य को लेकर भी यह विमर्श खड़ा हुआ कि दलित साहित्य किसे माना जाए। वह साहित्य जो दलित द्वारा लिखा गया हो चाहे उसकी संवेदना कुछ भी हो या फिर वह साहित्य जिसमें दलित संवेदना की अभिव्यक्ति हुई हो भले ही वह किसी गैर दलित लेखक की रचना हो। 90 के दशक के लगभग सभी कवि आलोचकों ने इस विवाद पर अपना मत रखा। मोहनदास नैमिशराय कहते हैं कि "दलित साहित्य दलितों का ही हो सकता है, क्योंकि उन्होंने जो नारकीय उपेक्षापूर्ण जीवन जीया है, वह कल्पना की चीज नहीं है। आज भी वर्चस्ववादी ताकतें हमें वंचितों की कोटि में रखना चाहती हैं। दलित साहित्य की पहचान है – चेतना का उगता सूरज। वही हमारी मुक्ति का संदेश होगा। दलित साहित्य जख्मी लोगों का साहित्य है।"[8] नैमिशराय जी दलित साहित्य को सीधे तौर पर भोगे हुए यथार्थ से जोड़ते हैं। जो जीवन दलितों ने जीया है उसकी कल्पना करना भी आसान नहीं है। उनका कहना है कि कोई गैर-दलित उसे वाणी दे ही नहीं सकता, जैसा नारकीय और उपेक्षापूर्ण जीवन दलितों का रहा है उसे केवल एक दलित ही उसे बयान कर सकता है। साथ ही उनका कहना है कि दलित साहित्य के साथ मुक्ति की आकांक्षा भी जुड़ी हुई है और यह मुक्ति की आकांक्षा उन्हीं वर्चस्वादी ताकतों से है जिन्होंने दलितों का सदियों से शोषण किया है इसलिए कोई और उसे उसी प्रकार अभिव्यक्त नहीं कर सकेगा।

इसी प्रकार कँवल भारती भी दलित साहित्य को कला के लिए कला नहीं मानते, उसे आनंद और मनोरंजन से ऊपर दलितों द्वारा अपने प्रतिकार के माध्यम के रूप में देखते हैं। उनका कहना है कि "दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उन्हीं के द्वारा उसी की अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला का नहीं, बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है।"[9] कँवल भारती ने भी स्वयं भोगी हुई पीड़ा की अभिव्यक्ति को दलित साहित्य की शर्त माना है। उन्होंने दलित साहित्य को दलितों के संघर्ष और उनकी जिजीविषा से जोड़ा है। इसलिए वह साहित्य की भूमिका को भी दलितों के संघर्ष के हिस्से के तौर पर देखते हैं। जहाँ दलितों को अभी अपनी जगह हासिल करनी है। अभी तक समाज के एक बहुत बड़े हिस्से के साहित्य और उनके रचनाकारों को 'तथाकथित' मुख्य धारा के साहित्य से बाहर ही रखा गया था, अब वह अपनी जगह हासिल कर रहे हैं। वहीं दलित साहित्य पर अपने विचार रखते हुए डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी ने कहा है कि "दलित साहित्य संवेदना से विचार की ओर की सृजनात्मक क्रांति चेतना का ऐसा साहित्य है जो मानव के लिए मानव की दासता और पराधीनता से मुक्ति के द्वार पर दस्तक देकर मानव मात्र की मानव के रूप में मानव समाज में सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए सक्रिय संकल्पना है और यही संचेतना एवं संगठन की भीम ज्योति है तथा माधुर्य दृष्टि का मंजुल पुष्पगुच्छ भी है।"[10]

सत्यप्रेमी दलित साहित्य का एक बड़ा फलक बनाने के पक्ष में हैं जिसमें वह पूरी मानव जाति को दासता से मुक्ति के द्वार पर दस्तक देते हुए उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाना चाहते हैं। कुछ विद्वानों ने गैर-दलितों के द्वारा दलितों के बारे में लिखे गए साहित्य को भी दलित साहित्य माना है। मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि "सहृदयता, करुणा और सहानुभूति के सहारे गैर दलित लेखक भी दलितों के बारे में अच्छा लिख सकते हैं और लिखा भी है। परंतु उनका भी कहना है कि सच्चा दलित साहित्य वही है जो दलितों द्वारा अपने बारे में या संपूर्ण समुदाय के बारे में लिखा जाता है, क्योंकि ऐसा साहित्य सहानुभूति से नहीं, बल्कि स्वानुभूति से उपजा होता है।"[11] लेकिन इस आधार पर उन रचनाओं का दलित साहित्य की श्रेणी से छूट जाना संभव था जिसमें दलित संवेदना है लेकिन वह किसी गैर दलित लेखक द्वारा लिखी गयी हैं। इस संदर्भ में माताप्रसाद का कहना है कि "दलित साहित्य केवल दलितों का लेखन नहीं है, बल्कि जिन्होंने भी दलितों की पीड़ा का अनुभव करके उन पर साहित्य सृजन किया है वह भी दलित साहित्य की श्रेणी में आता है।"[12]

इस विमर्श की जड़ में ऐतिहासिक रूप से छीनी गई सांस्कृतिक पूंजी की मांग भी शामिल थी। दलित लेखकों का मानना था कि जातिगत गुलामी को झेलते हुए साहित्य में वह बहुत देर से शामिल हुए उनके साहित्य और उसको परखने के लिए नए मापदंडों की आवश्यकता होगी। जिसका निर्माण वह खुद करेंगे। दलित साहित्य के बदलते परिदृश्य के बारे में डॉ. रामचन्द्र का कहना है,

> वेदना, आक्रोश और आमूल परिवर्तन की आकांक्षा से दलितों ने अस्मिता के संघर्ष को एक आकार देना शुरू कर दिया है। सदियों से जिसे साहित्य और समाज के हाशिए पर फेंक दिया गया था तथा जिसे अछूत, अतिशूद्र, अंत्यज, चांडाल, अवर्ण, पंचम आदि नामों से विहित करके घृणा, हिकारत और दया का पात्र बना दिया गया था, वही आज प्रखर आत्म-बोध के साथ इन सारी शब्दावलियों और विशेषणों को ठुकराकर स्वयं दलित के रूप में अपनी अस्मिता का बोध साहित्य, समाज और राजनीति तीनों ही स्तरों पर कर रहा है, जबर्दस्त दस्तक दे रहा है और यही नहीं अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज करा रहा है तथा अपने अधिकारों के लिए स्वयं संघर्ष कर रहा है।[13]

इस प्रखर आत्मबोध के साथ अपना साहित्य रचते हुए वह किसी की भागीदारी नहीं चाहते। इसलिए वह गैर दलितों द्वारा लिखे साहित्य को दलित साहित्य की कोटि से बाहर रखते हैं। परंतु इस बहस के बावजूद एक व्यापक फलक पर संपूर्ण एकता स्थापित करने और साहित्य में दलितों की संवेदनाओं की अधिक से अधिक अभिव्यक्ति के लिए दलितों के और गैर दलितों के दोनों द्वारा लिखे गए, दलित संवेदना पर आधारित साहित्य को दलित साहित्य की श्रेणी में रखा जाना चाहिए क्योंकि साहित्यकार का काम परपीड़ा की अभिव्यक्ति करना है। वह किसान न होकर भी किसान जीवन की संवेदना की अभिव्यक्ति करता है ऐसे ही वह दलित न होने पर भी दलितों की संवेदना की अभिव्यक्ति करता है हालांकि दोनों अभिव्यक्तियों में स्वयं भोगे हुए यथार्थ और दूसरे के भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति में अंतर होता है। परंतु दलित अस्मिता के लिए यह ज्यादा जरूरी है कि उसकी संवेदना की अधिक से अधिक अभिव्यक्ति हो ताकि उसकी पहुँच

ज्यादा से ज्यादा लोगों तक हो सके। दरअसल दलित साहित्य और उनकी कविता एक आन्दोलन है, वह मात्र कला के लिए कला नहीं है। उसका एक व्यापक उद्देश्य है जिसका मकसद इस शोषण आधारित व्यवस्था को समाप्त करना और समतामूलक समाज की स्थापना करना है।

हालांकि कई बार दलित अस्मिता की कविता अपने मार्ग से भटकने भी लगती है। वह अपने उद्देश्य और ऐतिहासिक आवश्यकता को भूलकर केवल यथास्थिति में ही अपना स्थान पाने की जद्दोजहद करने लगती है। कँवल भारती ने अतीत और वर्तमान के साहित्य के बारे में लिखते हुए दलित साहित्य के वर्तमान परिदृश्य पर किंचित चिंता भी व्यक्त की है,

> कल के दलित साहित्य की एक दिशा थी, पर आज के दलित साहित्य की दिशा नहीं है। वह दिशाहीन है, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ। मतलब सिर्फ यह है कि वह किसी एक दिशा में नहीं जा रहा है। कल के दलित साहित्य को सत्ता की चिंता नहीं थी, पर आज के दलित साहित्य को सत्ता की भी चिंता है। वह सत्ता से आतंकित है, मैं यह नहीं कह रहा हूँ। मतलब यह है कि उसे सत्ता आकर्षित करने लगी है और उसकी चिंता में सत्ता के सरोकार भी दिखाई दे रहे हैं।[14]

दरअसल आज दलितों को सत्ता के गलियारों से बहकावों के जाल में फंसाया जा रहा है। दलित साहित्य और समाज के जो पैरोकार हुआ करते थे उन्हें सत्ता के सुख अपनी ओर खींच रहे हैं और वह अपने निजी फायदे के लिए व्यापक समाज के साथ धोखा कर रहे हैं। जिस मुक्ति की आकांक्षा के साथ दलित अस्मिता

के सवाल खड़े हुए थे वह मुक्ति की आकांक्षा कहीं पीछे छूट गई है। यह व्यापक समाज की मुक्ति की जगह निजी मुक्ति में बदल गई है। इसलिए कँवल भारती को दलित साहित्य की दिशा में भटकाव नजर आने लगते हैं। वह कहते हैं कि

> कल का दलित साहित्य विचारपरक था, पर आज का दलित साहित्य व्यक्ति केंद्रित है और यह व्यक्ति स्वयं लेखक है। कल का दलित साहित्य दलित समाज से जुड़ा हुआ था, पर आज का दलित साहित्य काफी हद तक बाजार से जुड़ रहा है। वह अपना बाजार नहीं बना रहा है, ऐसा होता तो शायद यह अच्छी बात होती। वस्तुतः वह काफी हद तक बाजार की मांग पर लिखा जा रहा है। दूसरे शब्दों में दलित साहित्य ने बाजार में प्रवेश नहीं किया है, बल्कि बाजार ने उसमें प्रवेश कर लिया है। लेकिन, इसके बावजूद हमें यह स्वीकार करना होगा कि कल के दलित साहित्य की भूमिका सीमित थी, पर आज के दलित साहित्य की भूमिका सीमित नहीं है। आज का दलित साहित्य न सिर्फ साहित्य की विभिन्न विधाओं में विस्तार पा रहा है, बल्कि उसने राष्ट्रीय अखबारों और पत्रिकाओं के माध्यम से गैर दलितों के विशाल वर्ग को भी आकर्षित किया है।[15]

दलित साहित्य का फलक जैसे-जैसे बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे उसके मतभेद बढ़ते जा रहे हैं। राजनैतिक स्तर पर भी दलित राजनीति ने अलग-अलग रुख अपनाए। जहां दलित साहित्य में सत्ता के प्रति मोह, उसमें हिस्सेदारी की लालसा दिखाई देती है वहीं दलित साहित्य ने साहित्य और समाज के अनछुए पहलुओं को उभारकर केंद्र में लाकर खड़ा कर दिया है। राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन का ही नतीजा है कि दलित

समाज में नई चेतना विकसित हो रही है और वह निरंतर अपनी अस्मिता तथा पहचान की लड़ाई को धारदार बनाने की दिशा की ओर अग्रसर हो रहा है। रघुवीर सिंह का कहना है कि "राष्ट्रीय एकीकरण की पक्षधरता तथा जर्जर जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, अशिक्षा आदि विषमताओं का विरोध जो बहुत पहले ही हिंदी साहित्य की मुख्यधारा के विषय होने चाहिए थे, हिंदी साहित्य जगत के उन्हीं अनछुए बिंदुओं को अपने लेखन का विषय बना रहा है दलित साहित्य।"[16] दलित साहित्य ने साहित्य को सम्पूर्णता प्रदान की है, इसने अब तक साहित्य से वंचित विषयों को साहित्य में जगह दिलाई है तथा साहित्यकारों को सोचने के लिए मजबूर किया है कि वह अब तक समाज के इतने बड़े हिस्से के अनुभवों और उसके जीवन की सच्चाइयों से कोसों दूर थे, जिन्हें अब तक साहित्य में जगह नहीं दी गई थी।

दलित अस्मिता के साथ अस्मिता आधारित चिंतन का एक पहलू यह भी है कि इसमें धीरे-धीरे एक विपरीत अस्मिता के अस्तित्व की पहचान जरूरी नहीं मानी जाती। ऐसे में अस्मिता, उत्पीड़ित की ऐसी अस्मिता नहीं रह जाती, जिसे संघर्ष करके परे जाना हो, बल्कि वह अपने आप में एक साध्य बन जाती है। डॉ. धर्मवीर ऐसे चिंतन के प्रतिनिधि आलोचक दिखते हैं, जिनके मुताबिक "वास्तव में, दलित चिंतन उस समय मुक्त, स्वतंत्र और वास्तविक होगा जिस समय उसके जिक्र में से ब्राह्मण का संदर्भ निकल जाएगा। वह दिन उसकी सच्ची स्वतंत्रता का दिन होगा।"[17] यह पूरी अवधारणा ही संभव नहीं है, क्योंकि दलित इसलिए दलित है क्योंकि कोई ब्राह्मण है और उसका हित है कि कोई दलित बना रहे। जब तक ब्राह्मण

रहेगा, और दलित, दलित बना कर रखा रहेगा, तब तक दलित के लेखन में ब्राह्मण का जिक्र एक विचारधारा और संरचना को आरोपित करने वाले प्रतिनिधि के रूप में आता रहेगा। यह तभी संभव है, जब दलित अपने उत्पीड़न को भूल जाए और अपने दलित होने से संतुष्ट हो जाए। या फिर जाति व्यवस्था का खात्मा हो जाए। लेकिन तब शायद दलित साहित्य की आवश्यकता ही नहीं बचेगी। राजनीतिक रूप से भी विभिन्न अस्मिताओं की लड़ाई कई बार एक दूसरे को समाहित नहीं करती। जो कि विचारणीय रहा है जैसे कि पुरुषोत्तम अग्रवाल इशारा करते हैं,

> वर्णाश्रम के वर्चस्व को मिल रही ऐतिहासिक चुनौती की अपनी सीमाएं कम चिंताजनक नहीं हैं। सबसे बड़ी बात तो यही है कि औरत की हैसियत का सवाल अभी भी राजनीतिक एजेंडे पर नहीं है। सामाजिक न्याय के दावेदारों में से अधिकांश को लिंगपरक अन्याय और उत्पीड़न की कोई चिंता है – फिलहाल ऐसा नहीं लगता। इसके साथ ही वर्णाश्रम को चुनौती दे रही सामाजिक शक्तियों का परम्परा विषयक रवैया बहुत संकीर्ण बल्कि असंवेदनशील है। वर्चस्व का प्रतिरोध करने की उनकी दृष्टि मुख्यतः प्रतिशोधपरक है। ऐसी दृष्टि सत्ता के दावेदारों की भूमिका में अदला-बदली तो कर सकती है, लेकिन जरूरत सत्ता के मिजाज और सामाजिक मानस के भावतंत्र में मूलगामी परिवर्तन लाने की है।[18]

दलित अस्मिता की कविता को अन्य अस्मिताओं और उनके संघर्षों, चुनौतियों के साथ मिलकर लड़ना होगा तभी एक व्यापक एकता बनेगी और संघर्ष और प्रतिरोध की धार भी तेज होगी। सभी अस्मिताओं को

अपने अन्दर की कमजोरियों को भी समझ कर उनसे पार पाने की कोशिश करनी होगी। दलित स्त्री की अस्मिता का सवाल भी ऐसा ही सवाल है क्योंकि दलित होने के साथ-साथ वह व्यापक पितृसत्ता की जकड़न में भी उलझी हुई है, उसे दलित समाज में निहित पितृसत्ता से भी संघर्ष करना होता है। इस तरह के सवालों को भी अस्मिता आधारित चिंतन को हल करना होगा। दलित कविता को अपनी अस्मिता को भी बनाए रखना है साथ ही जाति से मुक्ति के संघर्ष को भी तेज करना है।

मुख्यतः दलित कविता भी इन्हीं दो पहलुओं के बीच आवाजाही करती रहती है। एक तरफ जाति से मुक्ति उसका सवाल है और दूसरी ओर अपनी अस्मिता का संघर्ष जो कभी-कभी उसे जाति के बंधन में भी बंधे रहने को मजबूर करता है।

दलित अस्मिता के सन्दर्भ में हमें जो भी विरोधाभास दिखाई देते हैं उसका कारण यह है कि अस्मिता के निर्माण में ही वह विरोधाभास है जिनका प्रतिफलन हमें उन द्वंद्वों में दिखाई देता है जो दलित अस्मिता के साथ जुड़े हैं। जैसे कि निजी फायदे या व्यक्तिगत हित की बात जो कि दलित अस्मिता के चिंतन से निकल कर आती है। दरअसल अस्मिता के मूल में ही स्व यानि निज की पहचान को स्थापित करना है। जब यह स्वानुभूति की बात करती है तो यह स्वयं के अनुभव की बात कर रही होती है जोकि अन्य से अलग है। अपनी एक अलग अस्मिता के रूप में पहचान स्वयं को उस वृहद अस्मिता से अलग कर लेना है जिसमें सारे शोषित तबके एक हों, अस्मिता स्वयं को अलग से पहचाने जाने और अपने शोषण को भी

अलग से दिखाने के पक्ष का ही नतीजा है। यह वर्ग के शोषण और वर्ग की एकता की जगह अपनी अस्मिता की एकता पर बल देती है। इसलिए यह अस्मिता के अन्दर ही निहित है कि स्वयं की अलग पहचान हो फिर यही अस्मिता व्यक्ति की निजी अस्मिता तक भी जाती है जिसमें उसे निजी मुक्ति का मार्ग दिखाई देता है और वह सत्ता के साथ जुड़ कर अपने निजी हित साधने लगता है। साथ ही अस्मिता के मजबूत होने से सत्ता के मजबूत होने में भी जो विरोधाभास दिखाई देता है दरअसल वह भी अस्मिता में ही अन्तर्निहित है क्योंकि अस्मिता का सारा विमर्श ही सत्ता में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करना और शक्ति में अपनी हिस्सेदारी चाहना ही है। इसलिए अस्मिता के विमर्श के पैरोकारों से यह उम्मीद करना बेमानी होगा कि वह सत्ता के साथ संघर्ष की स्थिति में जाएंगे। इसलिए सत्ता पक्ष के लिए यह अस्मितामूलक विमर्श उनको बचाए रखने के लिए बहुत जरूरी है क्योंकि यह एक सामूहिक लड़ाई की संभावना को कमजोर करते हैं, साथ ही सामूहिक एकता बनने के लिए भी बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए यह सत्ता के लिए बहुत फायदेमंद हैं। इसलिए अस्मिता के विमर्श जहाँ सत्ता और शोषण के खिलाफ खड़े हुए थे या यह लगता था कि वह सामूहिक मुक्ति के मार्ग को आगे बढ़ाएंगे वह केवल एक भ्रम ही था।

दलित कवियों की काव्यदृष्टि के निर्माण में ब्राह्मणवाद से संघर्ष निहित है। दलित अस्मिता से जुड़े कवियों के कविता संग्रह और उनकी कविताओं में वर्णव्यवस्था के खिलाफ विद्रोह और जाति व्यवस्था को उखाड़ फेंकने का संकल्प दिखाई देता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के कविता संग्रह *सदियों का संताप,*

बस्स, बहुत हो चुका, अब और नहीं, शब्द झूठ नहीं बोलते, आदि; कँवल भारती के कविता संग्रह *तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?*, आदि; जयप्रकाश कर्दम के कविता संग्रह *गूंगा नहीं था मैं, तिनका तिनका आग, बस्तियों से बाहर*, आदि; मलखान सिंह के काव्य संग्रह *सुनो ब्राह्मण, ज्वालामुखी के मुहाने पर* आदि, इन प्रतिनिधि दलित रचनाकारों के कविता संग्रह और इनकी कविताओं में हमें यही जाति व्यवस्था से विद्रोह और समतामूलक समाज की स्थापना की आशा देखने को मिलती है। इस आशा से इनकी काव्यदृष्टि का भी निर्माण होता है।

दलित कवि आलोचकों की काव्यदृष्टि मुक्ति की आकांक्षा से निर्मित है। दलित मुक्ति चेतना के विकास और फैलाव इसके मुख्य उद्देश्य हैं। इसके केन्द्रीय बिंदु के रूप में समतामूलक समाज की स्थापना है तथा आंबेडकर का जनतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था का स्वप्न है। इस काव्यदृष्टि में शोषण के सारे तंत्रों का प्रतिकार है। वर्चस्व बनाए रखने के सारे तंत्रों जैसे धर्म, सत्ता, बनावटी संस्कृति, आदि का विरोध है जो उत्पीड़न, अन्याय, शोषण, दमन तथा आर्थिक विषमता को बनाए रखते हैं।

स्त्रीवादी काव्यदृष्टि की निर्मिति

स्त्रियों का शोषण दलितों की तरह सदियों पुराना है। इन दोनों अस्मिताओं के शोषण में जहाँ कुछ समानताएं हैं तो कुछ भिन्नताएं भी मौजूद हैं। जहाँ दलितों का शोषण वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्था के साथ जुड़ा हुआ है वहीं स्त्रियों का शोषण पितृसत्तात्मक संरचनाओं से तो होता ही है, जातीय संरचनाओं से भी होता है। इस तरह वे दोहरा शोषण झेलती हैं। उसे पितृसत्ता और जाति व्यवस्था दोनों के द्वारा शोषित होना पड़ता है। दलित और स्त्री दोनों की पीड़ा सदियों पुरानी है परंतु दोनों का दर्द समान होने पर भी भिन्नता रखता है। दोनों की पीड़ा और शोषण के अनुभव अलग-अलग हैं। इस पुरुषवादी समाज ने स्त्रियों के शोषण के अनेकों तरीके विकसित कर लिए, यहाँ तक कि स्त्री भी पुरुषवादी मानसिकता से ही अपने को देखने लगती है और उसे अपने शोषण के लिए रचे गए सारे तंत्र अपनी सुरक्षा के लिए जरूरी लगने लगते हैं और वह पूरी तरह से पुरुष के नियंत्रण में ही अपने को स्वीकार करने लगती है। दरअसल निजी सम्पत्ति के उदय के साथ उस पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए तरह-तरह के शोषण भी उभर कर सामने आए। दलितों को संसाधनों से वंचित करने के लिए जाति व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था का पूरा दुश्चक्र रचा गया। इसी प्रकार निजी संपत्ति को पुरुष अपनी ही संतान को हस्तांतरित कर सके इसके लिए जरूरी था कि वह स्त्रियों की प्रजनन शक्ति को निर्धारित कर सके। इसलिए स्त्रियों पर नियंत्रण रखने के लिए तमाम तरह के सामाजिक और धार्मिक प्रपंचों को तैयार किया गया। जिसके चलते स्त्रियों को पुरुष के अधीनस्थ बना दिया गया।

स्त्रियों को पुरुष द्वारा तय की गई भूमिका में बांध दिया गया। पुरुष स्त्री का स्वामी बन गया और स्त्री उसकी दासी। स्त्रियों को समाज में दोयम दर्जा प्रदान किया गया। यहाँ तक कि उसे मनुष्य के रूप में स्वीकार भी नहीं किया गया। पुरुषों ने स्त्रियों को मनुष्य न मानकर उसे अपनी संपत्ति के रूप में माना और उस पर अपना सम्पूर्ण अधिकार सुनिश्चित किया इसके लिए धर्म, सामाजिक संस्थाएं जैसे परिवार, राज्य आदि का सहारा लिया गया। स्त्रियों को पुरुषों के अधीन जीवनयापन के विभिन्न नियम कानून बनाए गए जिनका पालन करना स्त्रियों के लिए अनिवार्य बना दिया गया तथा पालन न करने की स्थिति में विभिन्न प्रकार के दंड विधानों का भी बंदोबस्त किया गया। इस तरह स्त्रियों को सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकारों से सदियों से वंचित रखा गया। उसका किसी भी प्रकार से समाज के विभिन्न संसाधनों पर कोई अधिकार न रहा। यहाँ तक कि उसके स्वयं के द्वारा पैदा की गई संतान पर भी उसका कोई अधिकार नहीं रहा। उसकी स्वयं की प्रजनन शक्ति पुरुष के अधीन हो गई। स्त्रियों का स्वयं की देह पर भी कोई अधिकार नहीं रहा, उसकी देह भी पुरुष के अधीन हो गई, इस तरह स्त्रियों के शोषण की एक लंबी परम्परा रही है। जिसके खिलाफ स्त्रियों का प्रतिरोध भी देखने को मिलता रहा है परंतु यह प्रतिरोध आधुनिक समय में ही ज्यादा मुखर रूप से उभर कर सामने आते हैं।

आधुनिक समय में लोकतान्त्रिक मूल्यों के स्थापित होने के बाद दुनिया भर में स्त्रियों की मुक्ति और उनकी बराबरी से जुड़े सवाल समाज में जगह बनाने लगते हैं। आधुनिक समय में लोकतान्त्रिक ढांचे में

समानता का सवाल मुख्य रूप से सामने आता है और जब समानता की बात आती है तो फिर सभी तरह की समानता की बात उठती है जिसमें स्त्री-पुरुष की समानता के प्रश्न भी सामने आते हैं। यह स्त्री मुक्ति और समानता के सवाल जब समाज में जगह पाने लगते हैं तो साहित्य में भी स्त्री मुक्ति और उसकी समानता के सवाल जगह बनाने लगते हैं। स्त्री अस्मिता के सवालों को दो स्तरों पर उठाया जाने लगा, एक तरफ ये सवाल दर्शन के स्तर पर उठते हैं, वहीं साहित्य में ये अनुभव, पीड़ा, गुलामी आदि की अभिव्यक्ति के रूप में जगह पाते हैं। दरअसल स्त्री को मनुष्य के रूप में जगह न मिल पाना स्त्री अस्मिता के चिंतन का सबसे बड़ा सरोकार है। यही सरोकार स्त्री अस्मिता की कविताओं में देखने को मिलता है। स्त्री के रूप में अपनी पहचान और अस्मिता के लिए स्त्रियों का यह संघर्ष स्त्री कविता की काव्यदृष्टि है। इसलिए वर्तमान समय में स्त्री के सामने स्त्री अस्मिता का प्रश्न सबसे बड़ा प्रश्न है। स्त्री अस्मिता की लड़ाई, स्त्री स्वाभिमान की लड़ाई है।

भारतीय समाज में स्त्री अस्मिता का प्रश्न आधुनिक चेतना का प्रतीक है। आधुनिक स्त्री को जब अपनी भारतीय परम्परा में अपना चेहरा दिखाई नहीं देता है तब वह अपनी परम्परा की तलाश करती हुई इतिहास में लौटती है और अपने को स्थापित करना चाहती है। परंतु उन्हें अपने इतिहास में अपना शोषण और उसे बनाए रखने के सारे पितृसत्तात्मक तरीके दिखाई देते हैं। मुद्राराक्षस के मुताबिक, उन्हें पता चलता है कि कैसे,

> धर्मतंत्र और सामाजिक अर्थव्यवस्था ने स्त्रियों को शिक्षा और संपत्ति के अधिकार तथा सामाजिक हैसियत से वंचित कर उसे विवाह और परिवार से इस तरह बांध दिया कि वह अपनी स्वतंत्रता का विसर्जन और आत्मसमर्पण करने की कीमत पर ही सम्मान की जिंदगी बिता सकती है। धर्म ने परिवार और विवाह कर नीतितत्व, पतिव्रत और यौन-शुचिता की अनिवार्यता सुनिश्चित कर स्त्री की अस्मिता, स्वायत्तता और संबंधों की स्वाधीनता पर अंकुश लगा दिया।[19]

यह आधुनिक स्त्री को गवारा नहीं है वह आज इस तमाम तरह के धर्मतंत्र और सामाजिक बंधनों से आजाद होकर स्वयं के अस्तित्व को पहचानना चाहती है। वह अपने जीवन के मायने तलाश करना चाहती हैं। परंतु भारतीय समाज में आज भी स्त्रियों को सदियों पुराने समाज की बंदिशों में ही रखा जाता है, उनकी बराबरी की इस मांग को ख़ारिज कर उन्हें परिवार, समाज और धर्म के कानूनों के सहारे पितृसत्ता के शिकंजे में कसे रहने पर मजबूर किया जाता है। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा ने स्त्री की वर्तमान स्थिति पर अपने विचार *श्रृंखला की कड़ियाँ* में व्यक्त किए हैं। वे लिखती हैं,

> युगों के अनवरत प्रवाह में बड़े-बड़े साम्राज्य बह गए, संस्कृतियां लुप्त हो गईं, जातियाँ मिट गईं, संसार में अनेक असंभव परिवर्तन संभव हो गए, परंतु भारतीय स्त्रियों के ललाट में विधि की वज्रलेखनी से अंकित अदृष्ट लिपि नहीं धुल सकी। आज भी जब सारा गतिशील संसार निरंतर परिवर्तन की अनिवार्यता प्रमाणित कर रहा है, स्त्रियों के जीवन को काटछांट कर उसी साँचे के बराबर बनाने का प्रयत्न हो रहा है जो प्राचीनतम युग में ढाला गया था।[20]

भारतीय समाज में स्त्रियों को लेकर आज भी दकियानूसी समझ कायम है। उन्हें आज वर्तमान समय में भी पुरुष की संपत्ति के तौर पर ही देखा जाता है। स्त्रियों से पुरुष अपना मान सम्मान जोड़ कर देखते हैं और उन्हें विभिन्न तरह के बंधनों में नियंत्रित कर अपने पौरुष के झूठे अभिमान को बचाने का प्रयत्न करते हैं। जब एक पुरुष को दूसरे पुरुष के सम्मान को ठेस पहुँचानी होती है तो वह उसके परिवार की स्त्रियों का ही अपमान करने की कोशिश करता है। भारत में स्त्रियों को जहाँ एक तरफ देवी का दर्जा दिया जाता है परंतु इस देवी को बराबरी का हक़ नहीं दिया जाता, अपने इस हक़ की लड़ाई में भारतीय स्त्रियाँ दुनिया की अन्य स्त्रियों से अभी काफी पीछे हैं। उन्हें अभी भी अपने मौलिक अधिकारों की लड़ाई से पहले अपने स्त्री होने के स्वाभिमान की लड़ाई लड़नी पड़ रही है। महादेवी वर्मा के शब्दों में कहे तो आज की स्त्रियाँ कहती हैं कि "हमें न किसी पर जय चाहिए, न किसी से पराजय, न किसी पर प्रभुता चाहिए, न किसी का प्रभुत्व। केवल अपना वह स्थान, वह स्वत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है परंतु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी।"[21] यानी स्त्रियाँ अपने को एक पुरुष के सामान मनुष्य के रूप में स्वीकारे जाने के लिए अपने स्त्रीत्व के लिए संघर्षरत हैं। वह समाज में गैर बराबरी के खिलाफ अपनी बराबरी के हकों की लड़ाई लड़ रही हैं। यह लड़ाई पुरुषों के खिलाफ नहीं है न ही पुरुष जैसा बनने के लिए है। यह लड़ाई पितृसत्ता की जगह मातृसत्ता लाने के लिए भी नहीं है। यह तो केवल स्त्री के रूप में स्त्री को पहचाने जाने और उनके स्वाभिमान और बराबरी के हकों को हासिल करने की लड़ाई है। जैसा कि जगदीश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं, समाज में पुरुषवर्ग को यह समझना ही होगा कि "स्त्री समानता की लड़ाई बुनियादी लड़ाई है।

इससे उसे स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता एवं अस्मिता की पहचान मिलेगी। इस संघर्ष के प्रति तदर्थभाव, दयाभाव या सहानुभूतिभाव, स्त्री के संघर्ष एवं अवदान को कम करेगा। स्त्री की समानता के संघर्ष के प्रति दया या सहानुभूति की जरूरत नहीं है बल्कि यह महसूस करने की जरूरत है कि यह तो उसका अधिकार था जो उसे दिया जाना चाहिए।"[22] पुरुषों को यह भी समझना होगा कि स्त्री के सवाल असल में पुरुषों के भी सवाल हैं क्योंकि इस पितृसत्ता ने पुरुष को भी मनुष्य बनाने की जगह केवल एक पुरुष में बदल कर रख दिया है उसके अन्दर एक मर्दवादी सोच को भर दिया है जो उसकी इंसानियत को समाप्त कर देती है। इसलिए यह संघर्ष एक बेहतर मनुष्य बनने का संघर्ष है, जिसमें पुरुषों को भी स्त्रियों के साथ खड़े होना चाहिए। समाज में हालाँकि यह देखने को कम मिलता है कि स्त्रियों के सवालों के साथ पुरुष भी खड़े हों, परंतु साहित्य के स्तर पर हमें यह देखने को मिलता है।

विभिन्न कवि स्त्री अस्मिता के सवालों और उनकी संवेदना को कविता में दर्ज करने की कोशिश करते हैं। परंतु यहाँ भी वही सवाल खड़ा होता है कि क्या पुरुषों के द्वारा लिखी कविता या साहित्य को भी, यदि वह स्त्री सम्वेदना या सवालों से जुड़ा है, तो उसे स्त्री अस्मिता की कविता या साहित्य माना जाए या नहीं। इस सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार रखे हैं।

कवयित्री महादेवी वर्मा इस विषय पर एक विचार को उद्धृत करते हुए कहती हैं कि, "'पुरुष के द्वारा नारी चित्रण अधिक आदर्श बन सकता है।' परंतु अधिक सत्य नहीं, विकृति के अधिक निकट पहुँच सकता

है किन्तु यथार्थ के अधिक समीप नहीं। पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है नारी के लिए अनुभव, अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेगी वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरांत भी शायद ही दे सके।"[23] इस तरह वे साहित्य में स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्ति को भोगे हुए यथार्थ से जोड़ कर देखती हैं।

रेखा कस्तवार लिखती हैं, "स्त्री देह के रूप में स्त्री का अनुभव करना, पुरुष के रूप में अनुभव करने से भिन्न अनुभव होता है।"[24] उनके लिए मुख्य बात स्त्री के नजरिए से स्त्री के बारे में लिखने में सक्षम होना है, "औरत की देह के बारे में बोलना आसान है, खासकर मर्द होकर बोलना आसान है किन्तु उसकी देह के बारे में उसकी तरह बोलना आसान नहीं।"[25] वह इस बात पर जोर देती है कि स्त्री की संवेदना की अभिव्यक्ति जिस प्रकार स्वयं स्त्री कर सकती है वैसा पुरुष नहीं कर सकता। यहाँ वह इस वक्तव्य में इसकी ओर भी इशारा कर रही हैं कि पुरुष की अभिव्यक्ति की भाषा अलग होती है और स्त्री की अभिव्यक्ति की भाषा अलग होती है, इसलिए दोनों की अभिव्यक्ति में अंतर होता है।

कुछ साहित्यकार पुरुषों द्वारा स्त्री अस्मिता से जुड़ा लेखन करने को शक की नज़र से देखते हैं। और उसे मात्र ढकोसला या स्त्रियों की आवाज़ को दबाने की साजिश के रूप में देखते हैं। पुरुषों द्वारा स्त्री लेखन को लेकर पंकज बिष्ट कहते हैं, "लेखन के सन्दर्भ में नारी पुरुष के भेद को ख़त्म करने वाली बात मूलतः पुरुष मानसिकता और वर्चस्व को बनाए रखने की ऐसी साजिश के रूप में देखी जानी चाहिए जो नारी के वास्तविक सरोकारों और पीड़ाओं को अभिव्यक्ति में बाइपास का काम करेगी।"[26] इस प्रकार वह स्त्रियों को

उनके लेखन के लिए न केवल प्रेरित कर रहे हैं बल्कि वह उन्हें सजग भी कर रहे हैं कि वह अपनी अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में भी यदि पुरुषों पर निर्भर रहेंगी तो वह सदियों से बनी रही पुरुषों पर निर्भरता को समाप्त नहीं कर पाएंगी। साथ ही वह पुरुषों के द्वारा स्त्री लेखन को भी एक साजिश के बतौर ही देखते हैं। उनका मानना है कि यह पुरुषों द्वारा स्त्रियों की पीड़ा को समाज और साहित्य में न ला पाने का ही एक तरीका है जिसके जरिए स्त्रियों की वास्तविक स्थिति कहीं पीछे रह जाएगी और पुरुषों की उथली अभिव्यक्ति उसे ढक देगी। इस सन्दर्भ में जैसाकि हीथ कहते हैं, "पुरुष का स्त्रीत्ववाद अन्ततः एक मर्दाना काम ही है।"[27] उनका मानना है कि पुरुष स्त्रियों के विषय में वैसे अभिव्यक्त नहीं कर सकता जैसा कि स्वयं उसे स्त्री अभिव्यक्त कर सकती है। पुरुष अन्ततः पुरुष ही है, उसका सारा समाजीकरण उसके वर्चस्वशाली पुरुषवादी समाज में ही हुआ है। इसलिए वह स्त्रियों के सामान उनकी पीड़ा और सदियों के संत्रास को अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मानना है कि लेखन में स्त्री और पुरुष कुछ नहीं होता। जब कोई लेखक कोई रचना करता है तब वह सिर्फ लेखक होता है। उनका मानना है कि हम सृजन को इस तरह बाँट कर नहीं देख सकते। "लेखन लेखन होता है नर-मादा नहीं। उसे बाँटकर देखनेवाली दृष्टि पूर्वाग्रह ग्रस्त है।"[28] इस प्रकार की दृष्टि साहित्य और सृजन के क्षेत्र के लिए उपयुक्त नहीं है। यह दृष्टि साहित्य में विभेद खड़ा करती है। इसी सन्दर्भ में मेहरुनिसा परवेज़ कहती हैं कि "जब लेखक कलम उठाकर अपने लिखने का धर्म निभाता है तब वह केवल लेखक होता है, स्त्री-पुरुष के शरीर से परे धर्म, समाज और परिवार से ऊपर उठ

जाता है, जो उठ नहीं पाता कभी लेखक नहीं हो सकता।"[29] वह लेखक को लेखक की तरह देखने के पक्ष में हैं, उसे स्त्री पुरुष के रूप में देखने को वह सही नहीं मानतीं।

ज्योत्सना मिलन इस बात को समझाते हुए कहती हैं, "एक स्त्री कलाकार, कवि या लेखक के सृजन रूप में जो भी विचलन पैदा करता है, वह सर्जक का विचलन है, स्त्री या पुरुष का नहीं, बल्कि वह ऐसा तभी कर पाती है जब वह भूल जाती है कि वह स्त्री है या पुरुष। सृजन को सृजन की तरह देखा जाना चाहिए।"[30]

सर्जक के रूप में ही किसी लेखक का मूल्यांकन होना चाहिए, न कि उसके स्त्री या पुरुष होने से उसकी रचना की महत्ता अलग हो जाएगी। एक प्रभावी रचना का मूल्यांकन उसके रचनाकार के लिंग से नहीं बल्कि उसके रचनात्मक मानदंड के आधार पर होना चाहिए। इसी बात को चित्रकला के उदाहरण से समझाते हुए चित्रकार अर्पिता सिंह कहती हैं कि "पेंटिंग पूरी हो जाने के बाद उसके देखने के अनुभव को आप दूसरे से अलग नहीं कर सकते। तब वह सारी कला कृतियाँ चाहे महिलाओं ने बनाई हों या पुरुषों ने, हम एक ही श्रेणी में रखेंगे। उनके अपने अस्तित्व के मूल्यांकन होते हैं। यह नहीं होता कि किसी पुरुष की पेंटिंग के लिए हमारा सौंदर्य बोध अलग होता है। जब वे रचना करते हैं तब हो सकता है, कि अलग-अलग तरीकों से करते हों क्योंकि देखने का तरीका दोनों का अलग-अलग है, लेकिन रचना जब पूरी हो जाती है तो उसे जज करने का तरीका एक होना चाहिए।"[31]

यहाँ अर्पिता सिंह यह तो स्वीकार करती हैं कि स्त्री और पुरुषों की संवेदना के धरातल अलग-अलग होते हैं परंतु एक रचना का सृजन होने के बाद हम उसे स्त्री पुरुष के मानदंडों से नहीं परख सकते। किसी रचना को केवल उसके अपने मानदंडों पर ही परखना चाहिए। दरअसल साहित्य में जबसे अस्मितामूलक विमर्श उभर कर सामने आए हैं, तब से उनकी आलोचना भी होने लगी है और उनके मूल्यांकन में पूर्वाग्रह से काम लिया जाता है जिससे एक उच्च कोटि की रचना के मूल्यांकन में भी आलोचकों की ओर से जिम्मेदारी का अभाव नज़र आता है।

दरअसल साहित्य में अब तक ज्यादातर पुरुष लेखकों का वर्चस्व रहा है और अब स्त्री रचनाकार इस वर्चस्व को प्रभावी चुनौती दे रही हैं, जिसके चलते कुछ पुरुष रचनाकार उनकी रचनाओं को निम्न-स्तरीय कह कर ख़ारिज करने लगे हैं। अस्मिता आधारित लेखन वर्चस्व के खिलाफ है, इसलिए वर्चस्ववादी ताकतें इन्हें हाशिए पर ही रखना चाहती हैं। परंतु यह अस्मिता अपना दखल अब बड़े पैमाने पर बना रही हैं। इसलिए इन्हें रोक पाना अब संभव नहीं है। स्त्री अस्मिता भी अब मुखर रूप से अपने को अभिव्यक्त कर रही है। कवयित्रियों की कविताओं में हमें यह देखने को मिलता है।

स्त्रियों की संवेदना का फलक बहुत ही व्यापक है। उसमें उनकी सदियों की पीड़ा अन्तर्निहित है साथ ही स्त्री देह को जब इस समाज ने एक कटघरे में तब्दील कर दिया हो तब तो स्त्रियों की संवेदना और भी अलग हो जाती है, जिसको स्त्रियां ही सही से बयान कर सकती हैं। अन्य केवल उसका अनुमान भर ही

लगा सकते हैं। इसलिए पुरुषों द्वारा स्त्री संवेदना की उसी प्रकार अभिव्यक्ति संभव नहीं है। इसके बावजूद यदि पुरुष स्त्री संवेदना की अभिव्यक्ति करने का प्रयास करते हैं तो यह स्त्री मुक्ति के लिए बाधा बनने की बजाय उनकी संघर्ष की लड़ाई को मजबूत ही करेगा क्योंकि पुरुष स्त्रियों की पीड़ा और उनके संघर्ष को समझने लगें तो स्त्रियों की लड़ाई में उनकी भागीदारी भी हो सकेगी। स्त्री अस्मिता के साहित्य में यही द्वंद्व और अंतर्विरोध देखने को मिलते हैं। इन्हीं से स्त्री अस्मिता की कविता की काव्य दृष्टि भी निर्मित होती है। स्त्री अस्मिता की कविताएँ असल में स्त्रियों की अपनी सामाजिक स्थिति के बारे में सोचने समझने की कविताएँ हैं। रेखा कस्तवार कहती हैं, "स्त्री-विमर्श स्त्री के स्वयं की स्थिति के बारे में सोचने और निर्णय करने का विमर्श है।"[32] यही चिंतन हमें स्त्री काव्य में भी दिखाई देता है। स्त्री रचनाकारों की कविताओं में हमें दुःख और वेदना के वे सारे आयाम देखने को मिलते है जो वह पितृसत्तात्मक समाज में सदियों से झेलती आ रही हैं। उनकी कविता में हमें स्त्री अस्मिता से जुड़े वह प्रश्न देखने को मिलते हैं जो वह समाज के सामने खड़े करती हैं। रमणिका गुप्ता स्त्री अस्मिता के प्रश्न पर विचार करती हुई कहती हैं,

> आखिर स्त्री अस्मिता है क्या? दरअसल यह पुरुष के समान स्त्री का समान अधिकार, स्त्री के प्रति विवेकमूलक दृष्टिकोण तथा स्त्री द्वारा पुरुष के वर्चस्व का प्रतिरोध है। औरत का केवल स्वतंत्र होकर निर्णय ले सकना या आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो जाना ही उसकी अस्मिता नहीं है। सही मायने में स्त्री अस्मिता का अर्थ होगा स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण और मानसिकता में बदलाव जिसमें स्त्री का खुद का दृष्टिकोण भी शामिल हो।[33]

स्त्री रचनाकारों की कविता में यही मुख्य सवाल उभर कर आता है कि वे समाज में अपनी मौजूदगी को दर्ज करना चाहती हैं। समाज में अपने प्रति दृष्टिकोण में बदलाव लाना चाहती हैं। साथ ही अपने आपको पुरुष के नज़रिए से नहीं बल्कि एक मनुष्य के नाते देखना चाहती हैं। जब हम प्रतिनिधि स्त्री कवयित्रियों और उनके कविता संग्रह को देखते हैं तो हम पाते हैं कि उनकी कविताओं में यही प्रश्न सामने आते हैं। अनामिका के काव्य संग्रह *ग़लत पते की चिट्ठी, खुरदुरी हथेलियाँ, दूब-धान*, आदि; कात्यायनी के कविता संग्रह *सात भाइयों के बीच चंपा, इस पौरुषपूर्ण समय में, जादू नहीं कविता*, आदि; अनीता वर्मा के कविता संग्रह *एक जन्म में सब, रौशनी के रास्ते पर*, आदि; सविता सिंह के कविता संग्रह *नींद थी और रात थी, अपने जैसा जीवन* आदि कविता संग्रह पितृसत्ता से संघर्ष और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आधारों पर स्त्रियों के वंचित कर दिए जाने के साथ-साथ अपनी अलग संवेदना की दावेदारी को दर्ज करते हैं। रजनी तिलक के काव्य संग्रह *पद्चाप* तथा सुशीला टाकभौरे के काव्य संग्रह *स्वाति बूंद और खारे मोती, तुमने उसे कब पहचाना, यह तुम भी जानो, हमारे हिस्से का सूरज* आदि में हमें स्त्री अस्मिता और उनके सवालों के साथ दलित अस्मिता से जुड़े सवाल भी देखने को मिलते हैं। इनकी कविताओं में पितृसत्ता के साथ-साथ ब्राह्मणवाद से मुक्ति के स्वर भी दिखाई देते हैं।

स्त्री-विमर्श से जुड़ी कवयित्रियों ने स्त्री अस्मिता और उसकी मुक्ति की आकांक्षा को अपनी कविताओं में दर्ज किया है। इसी से स्त्री अस्मिता और उनकी कवयित्रियों की काव्य दृष्टि का निर्माण भी

होता है जो कि उनकी कविताओं में देखने को मिलती हैं। दरअसल स्त्रीवादी कविता मुख्य रूप से उन सवालों को अपनी कविता में दर्ज करती है जो महिला के जेंडराइजेशन की प्रक्रिया को चुनौती देते हैं। वह जीवनशैली जो शायद किसी पितृसत्तात्मक समाज के लिए बहुत सामान्य हो उसे एक स्त्रीवादी कविता मानवता की श्रेणी में रखकर सवालों के कटघरे में खड़ा करती है। वह एक ऐसी स्त्री की छवि का निर्माण करने की कोशिश करती है जो पितृसत्तात्मक समाज की स्त्री की परम्परागत छवि से एकदम भिन्न है। स्त्रीवादी कविता का एक बड़ा दायरा भी बनता है, जिसमें सभी मनुष्यों की बराबरी के आधार पर नए समाज के निर्माण तक की बातें शामिल हैं।

आदिवासी काव्यदृष्टि की निर्मिति

आदिवासी अस्मिता अन्य अस्मिताओं की भांति 1990 के दशक के उदारीकरण के दौर में उभर कर सामने आई। परंतु भाषा के लिखित रूप में आदिवासी साहित्य की शुरुआत भारत में बीसवीं सदी के प्रारंभिक दौर में ही हो गई थी। तब भारत में औपनिवेशिक शासन था। इस दौरान आदिवासी समुदाय के अन्दर शिक्षा के प्रति नजदीकी बढ़ी और वह आधुनिक शिक्षा के संपर्क में आया। इसमें ईसाई मिशनरियों की भी एक भूमिका रही है। शिक्षा के प्रति यह नजदीकी विशेषकर, झारखंड और उत्तर-पूर्व के आदिवासी

इलाकों में देखने को मिलती है। आदिवासी समुदाय में इस लिखित साहित्य की परम्परा के प्रारंभ होने के बाद से लेकर आज तक भारत की विभिन्न भाषाओं में लगातार आदिवासी साहित्य लेखन हो रहा है। अंग्रेजी, हिंदी, बांग्ला, ओड़िया, असमी, और मराठी आदि अन्य भारतीय भाषाओं में आदिवासी साहित्य लेखन आधुनिक समय में निरंतर प्रगति कर रहा है। आज कई सारी ऐसी पत्र-पत्रिकाएं निकलती हैं जो लगातार आदिवासी लेखकों और उनके साहित्य को प्रकाशित कर रही हैं। विभिन्न आदिवासी रचनाकार स्वयं भी कई पत्र-पत्रिकाओं का संपादन कर रहे हैं और उनमें अपने साहित्य को लगातार सामने लाने का प्रयास कर रहे हैं।

राजनीतिक पटल पर और हिंदी साहित्य में आदिवासी अस्मिता का उभार अन्य अस्मिताओं से अपेक्षाकृत बाद की परिघटना है। हालांकि आदिवासी समुदाय औपनिवेशिक दौर में भी अपने जल, जंगल और जमीन के लिए संघर्ष करता रहा है। आदिवासी समाज तथाकथित मुख्यधारा के समाज से अलग समाज रहा है, जिसका बाहरी दुनिया से संपर्क सीमित रहा है। इस समाज की अपनी अलग सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ और मान्यताएं हैं, जहाँ काफी हद तक बराबरी के सामाजिक संबंध देखे जा सकते हैं। वहां स्त्री पुरुष में भी अपेक्षाकृत बराबरी देखने को मिलती है परंतु बाह्य समाज के संपर्क में आने से उनमें भी यह बराबरी की स्थिति समाप्त हो रही है। आदिवासी समाज की अपनी अलग सांस्कृतिक और धार्मिक परम्पराएँ हैं। उनके देवी-देवता अलग हैं, उनकी पूजा करने की विधि अलग है। वहां धार्मिक रूप से भी कोई

भेदभाव नहीं है। एक आदिवासी समुदाय किसी एक भगवान या प्रतीक की पूजा करता है तो दूसरा किसी और की करता है परंतु इस कारण कभी उनमें आपस में संघर्ष देखने को नहीं मिला। सभी एक दूसरे की मान्यताओं का आदर करते हैं। वहां उपासना स्थलों की भी वैसी स्थिति नहीं है जैसी व्यापक समाज में देखने को मिलती है, आदिवासी समाज में किसी भी पेड़ या मूर्ति की पूजा की जाती है तो उसका ऐसे सालभर ख्याल नहीं रखा जाता। वहां उपासक और इष्ट के बीच में कोई पुजारी नहीं होता है जो किसी अलौकिक भाषा में इष्ट के समक्ष उपासक की बात रखे बल्कि यहाँ तो उपासक अपनी भाषा में अपने इष्ट से स्वयं बात कर सकता है। उसे ईश्वर को मनाने के लिए कोई आडम्बर भी नहीं करना पड़ता। दरअसल उनका ईश्वर उनके साथ सुख-दुःख में रहता है वह कोई उनका पूर्वज हो सकता है कोई स्त्री या पुरुष हो सकता है जिससे वे अपनी भाषा में संवाद कर सकते हैं। उन्हें किसी बिचौलिए की आवश्यकता नहीं है। इस तरह हम पाते हैं कि आदिवासी समुदाय अन्य भारतीय समुदायों से काफी अलग है। जैसा कि रमणिका गुप्ता लिखती हैं, "उनकी अपनी एक अलग विरासत और पहचान है जो सामूहिक जीवन प्रणाली, समानता, स्वतन्त्रता, भाईचारा से लैस जनतंत्र तथा स्वायत्ता पर टिकी है। इनकी अपनी भाषाएँ हैं। अपनी भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ हैं।"[34] आदिवासी समाज तथाकथित विकास के मानदंडों में भले ही पीछे हो परंतु मानवता की दृष्टि और स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के दृष्टिकोण के काफी बेहतर और विकसित समाज है। हालाँकि व्यापक समाज के प्रभावों से वे भी बचे नहीं रहे हैं। कथित सभ्य समाज के सांस्कृतिक और सामाजिक

प्रभाव आदिवासी समाज पर भी पड़े हैं। वीर भारत तलवार, जो झारखंडी सभ्यता के संदर्भ में ब्राह्मणवादी संस्कृति के प्रभाव की चर्चा करते हैं वह सम्पूर्ण आदिवासी समाज पर लागू होती है। वे लिखते हैं

> आज झारखंडी संस्कृति के विकास की राह में सामाजिक दृष्टि से सबसे बड़ी बाधा ब्राह्मणवाद है। यह न केवल विकास की राह में सबसे बड़ी बाधा है, बल्कि झारखंड की विभिन्न जातियों की जातीय पहचान को तोड़ने और विकृत करने तथा यहाँ की जातीय संस्कृति के महान जनतांत्रिक मूल्यों को नष्ट करने की मुख्य जिम्मेदारी भी इसी ब्राह्मणवाद पर है। झारखंडी संस्कृति और ब्राह्मणवादी संस्कृति बुनियादी तौर पर एक-दूसरे की विरोधी हैं। झारखंडी संस्कृति बुनियादी तौर पर समाज के सभी सदस्यों की समानता पर, जनतांत्रिक मूल्यों पर आधारित संस्कृति रही है, जबकि ब्राह्मणवादी संस्कृति बुनियादी तौर पर मनुष्यों की सामाजिक समानता की विरोधी, जनतंत्र विरोधी संस्कृति रही है। झारखंडी संस्कृति शोषितों की संस्कृति है, जबकि ब्राह्मणवादी संस्कृति शोषकों की संस्कृति है।[35]

इस तरह आदिवासी समाज एक पूर्ण और व्यवस्थित समाज है। उसे बाहरी दुनिया के संपर्क में न आने से कोई फर्क नहीं पड़ता। उनका जीवन प्रकृति पर निर्भर है जल, जंगल के साथ उनका गहरा रिश्ता रहा है और प्रकृति के साथ तालमेल बैठाकर वह अपने जीवन का निर्वाह सदियों से करता आ रहा है। उसका तथाकथित विकसित समाज से जो संवाद बना है वह केवल इस 'विकसित' समाज के द्वारा उनके जल, जंगल जमीन की लूट के कारण बना है। औपनिवेशिक दौर में इसी कारण उनका अंग्रेजों से संघर्ष हुआ और 1947 के बाद जब भारत आज़ाद हुआ तो आदिवासी समाज के साथ इस आजाद भारत की सरकारों ने भी अंग्रेजों

की तरह उनके संसाधनों की लूट को जारी रखने के लिए उनका दमन करना शुरू किया। इसलिए उन्हें इस आजादी के बाद विकास के नाम पर शोषण और दमन का ही शिकार होना पड़ा है। आदिवासी दरअसल जिन इलाकों में रहते हैं उन इलाकों में जमीन के नीचे भारी मात्रा में खनिज सम्पदा है, जिसे कथित सभ्य समाज अपने विकास के लिए जरूरी मानता है। इसलिए उन्हें विकास के नाम पर उनके मूल इलाकों से उजाड़ा जा रहा है उन्हें विस्थापित किया जा रहा है। जिसके कारण आदिवासी समाज और बाहरी समाज के बीच संघर्ष की स्थिति बनी हुई है। आज विकास के नाम पर आदिवासियों को उनके जल, जंगल, जमीन से उजाड़ा जा रहा है। उन्हें जबरदस्ती तथाकथित मुख्यधारा से जोड़ने के नाम पर उनकी जड़ों से बेदखल किया जा रहा है। ऐसे समय में उनके सामने अपने अस्तित्व और अपनी अस्मिता को बचाए रखने का संकट खड़ा हो गया है। उनके अन्दर भय समा गया है कि इस तथाकथित विकास की आंधी जो कि जल, जंगल और जमीन को तबाह कर रही है उनके अस्तित्व को भी समाप्त कर देगी। इसलिए वह स्वाभाविक रूप से न केवल जल जंगल और जमीन को बचाने बल्कि खुद के अस्तित्व को बचाने की लड़ाई के लिए उठ खड़े हुए हैं। जिससे उनका अस्मिताबोध भी उभर कर सामने आया है। डॉ. रामदयाल मुंडा इस सन्दर्भ में कहते हैं, "किसी समुदाय की संस्कृति उसके जीवन के पूरे दायरे (देश-काल) में अर्जित मूल्य-बोध की पूंजी होती है और उसके लिए पहचान (अस्मिता, आइडेंटिटी) के संकट का सवाल तब आता है जब वह देखता है कि उस पर आक्रमण हो रहे हैं, जब उसकी पहचान के विघटित होने का भय उसे आतंकित करता है।"[36] आदिवासी समुदाय पर यह आक्रमण आज चौतरफा हो रहा है जहाँ एक तरफ उन्हें विथापित होने को

मजबूर किया जा रहा है वहीं दूसरी तरफ उनकी सदियों पुरानी संस्कृति को भी तहस-नहस किया जा रहा है। जिसके चलते उनका अस्मिताबोध जागृत हुआ है। यही कारण है कि समाज और साहित्य में आदिवासी अस्मिता मुखर रूप से उभर कर सामने आ रही हैं।

बीसवीं सदी के आखिरी दशक में भारत में वैश्वीकरण, निजीकरण और उदारीकरण की प्रक्रिया तेज होने लगी। जिसके चलते बड़ी-बड़ी विदेशी कम्पनियाँ भारत के अन्दर यहाँ के संसाधनों के लिए आने लगीं और जिसने आदिवासियों के विस्थापन को तेज किया। ऐसी स्थिति में उन्हें अपनी आवाज बाहर लाने की जरूरत महसूस हुई है और उन्होंने ऐसे तमाम तरीकों का प्रयोग किया जिससे कि उनकी आवाज व्यापक समाज तक पहुंच सके। साहित्य भी इसका एक माध्यम बना। इसलिए उनके समाज में जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार हुआ उन्होंने उसका प्रयोग किया। और न केवल अपनी भाषा में बल्कि अन्य भारतीय भाषाओं में भी आदिवासी साहित्य लिखा जाने लगा।

आदिवासी समाज में कला की अभिव्यक्ति व्यापक समाज की अभिव्यक्ति जैसी नहीं है। उनकी कला और कला के रूप भिन्न हैं। उनकी चित्रकला, नृत्य, संगीत, उनका साहित्य आदि अलग है। उनकी कला उनके दैनिक जीवन का हिस्सा है, जो अधिकतर उनके श्रम से जुड़ी हुई है। उनकी कला में प्रकृति और जल, जंगल आदि विद्यमान रहते हैं। इसलिए कि प्रकृति से उनका गहरा नाता है, वही उनका पालनहार है इसलिए प्रकृति का उनके कला रूपों में आना स्वाभाविक है। साहित्य की यदि बात की जाए तो

आदिवासियों में चूँकि आधुनिक शिक्षा का प्रसार काफी देर से हुआ और अभी भी एक बहुत बड़ा आदिवासी समाज शिक्षा से वंचित है। इसलिए उनके यहाँ साहित्य का लिखित रूप उतनी व्यापकता से देखने को नहीं मिलता। आधुनिक समय में ही उनका साहित्य लिखित रूप ले रहा है। आदिवासी समाज में साहित्य की मौखिक या वाचिक परम्परा रही है। यह वाचिक परम्परा सभी समाजों में देखने को मिलती है। और यह परम्परा आज भी लिखित साहित्य के समान्तर चल रही है। बस फर्क इतना है कि जो समाज शिक्षित हो जाता है वह अपने अनुभव और अपनी कला को संजोने के लिए उसे लिखित रूप में रखने लगता है। यह साहित्य की लिखित परम्परा अभिजात्य साहित्य के नाम से जानी जाने लगी। इसमें साहित्य लेखन और विभिन्न कलाओं के लिए कुछ मानदंड निर्धारित किए गए, जिनके आधार पर इन कलाओं का विकास हुआ और उसके बरअक्स लोकसाहित्य की एक अलग परम्परा चलती रही जिसके कोई ऐसे अभिजात्य मानदंड नहीं थे उसमें एक अनगढ़पन समाहित रहता है। आदिवासी साहित्य को भी इन्हीं दो रूपों मौखिक और लिखित के रूप में ही बाँट कर देखा जाता है। लेकिन जैसा कि ममता शरण लिखती हैं,

> आदिवासी साहित्यकार इस विभाजन को स्वीकार नहीं करते। वे मानते हैं कि चूँकि उनका जीवनदर्शन किसी भी विभाजन के पक्ष में नहीं है, उनके समाज में समरूपता और समानता है, इसलिए उनका साहित्य भी विभाजित नहीं है। वह एक ही है। वे अपने साहित्य को 'ऑरेचर' कहते हैं। ऑरेचर अर्थात् ऑरल + लिटरेचर। उनकी स्थापना है कि उनके आज का लिखित साहित्य भी उनकी वाचिक यानी पुरखा साहित्य की परम्परा का ही साहित्य है। ऑरेचर की अवधारणा सबसे पहले युगांडा के

आदिवासी लेखक पियो जिरिमू ने प्रस्तुत की थी, जिसे दुनिया के अधिकांश आदिवासी लेखकों और साहित्यकारों ने स्वीकार किया। इनमें अफ्रीका के न्गुगी वा थ्योंगो और भारत की वंदना टेटे प्रमुख हैं।[37]

आदिवासी साहित्य आज भी अपनी परम्परा को संजोए हुए है। उनके लिखित साहित्य में भी उनकी मौखिक साहित्य की परम्परा दिखाई देती है अभिजात्य समाज के जो कला के रूप या साहित्यिक विधा के जो रूप हैं वह आदिवासी समाज में नहीं थे। वहां उपन्यास, कविता, कहानी, काव्य, महाकाव्य, नाटक आदि देखने को नहीं मिलते थे। उनके कला रूपों में लोककथा, लोकगीत यानी लोकसाहित्य देखने को मिलता है जो उनकी वाचिक परम्परा में है। हिंदी भाषा में जो आदिवासी साहित्य लिखा जा रहा है वह अधिकतर कविता की विधा में ही है। कविता में अधिक आदिवासी अस्मिता की अभिव्यक्ति का कारण यह भी है कि आदिवासी साहित्य की वाचिक परम्परा में लोकगीतों की महत्वपूर्ण भूमिका है। आदिवासी समाज अपने सुख-दुःख लोकगीतों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है, यह लोकगीत दरअसल उनके जीवन से गहरे जुड़े हैं, इसलिए उनमें वह अपने को सहज रूप से अभिव्यक्त करते हैं। कविता विधा गीत के ज्यादा नजदीक है इसी कारण आदिवासी साहित्य अधिकतर कविता में अभिव्यक्ति पा रहा है। इसलिए हम पाते हैं कि जो हिंदी साहित्य में आदिवासी अस्मिता की कविता लिखी जा रही हैं उनमें लोकगीतों की सी बुनावट हैं। उनमें वैसी ही ताल और लय है जैसी लोकगीतों में होती है। आदिवासी अस्मिता को कविता के माध्यम से अभिव्यक्त करने वाले कवियों में हम हरिराम मीणा, निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, अनुज लुगुन आदि का नाम

ले सकते हैं। ये कवि मुख्यत: हिंदी में ही लिखते हैं। इन कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से आदिवासी अस्मिता को हिंदी साहित्य में स्थापित करने और उसे एक मजबूत विमर्श के रूप में खड़ा करने में इन कवियों का महत्वपूर्ण योगदान है।

दलित और स्त्री साहित्य की ही तरह, आदिवासी साहित्य के सन्दर्भ में भी यह प्रश्न खड़ा होता है कि आदिवासी साहित्य किसे माना जाए। क्या आदिवासी विषय पर लिखे गए गैर आदिवासियों के साहित्य को भी आदिवासी साहित्य कहा जाए? या आदिवासियों द्वारा लिखे गए साहित्य को ही आदिवासी साहित्य कहा जाए? आदिवासियों द्वारा लिखे गए साहित्य को ही आदिवासी साहित्य कहने वाले आदिवासी लेखक और साहित्यकार साहित्य को स्वानुभूति के आधार पर ही देखते हैं जिनका मानना है कि गैर आदिवासी साहित्यकार आदिवासी जीवन और उसके दर्शन को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। उनके अनुसार सहानुभूति से उपजा साहित्य प्रामाणिक नहीं होता क्योंकि उन्होंने उस पीड़ा को भोगा ही नहीं है जिसकी कि वह अभिव्यक्ति कर रहे हैं। साथ ही वह यह भी मानते हैं कि गैर आदिवासी लेखक इस बाज़ार और धनलोलुप समाज का हिस्सा है और वह आदिवासी समाज की निस्स्वार्थता को समझ ही नहीं सकता जोकि उन्हें विरासत में मिली है। उसका अपने पूर्वजों, प्रकृति और जीवों से जैसा सम्बन्ध है वैसा अन्य का हो ही नहीं सकता।

इसके विपरीत गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासी विषय पर लिखे साहित्य को भी आदिवासी साहित्य मानने वाले लेखक और साहित्यकार भी हैं, जो यह मानते हैं कि आदिवासी ही आदिवासियों के विषय में लिखे यह जरूरी नहीं है। गैर आदिवासी भी संवेदना के आधार पर आदिवासियों के विषय में लिख सकता है। ऐसा मानने वालों में आदिवासी लेखक जैसे हरिराम मीणा, महादेव टोप्पो, आईवी हांसदा, निर्मला पुतुल, अनुज लुगुन आदि तथा गैर आदिवासी लेखक जैसे- रमणिका गुप्ता, संजीव, राकेश कुमार सिंह, महुआ माजी, बजरंग बिहारी तिवारी, गणेश देवी आदि शामिल हैं। निर्मला पुतुल का कहना है कि "साहित्य का फलक बहुत बड़ा है जिसके मार्फ़त व्यक्ति अपने को नहीं बल्कि पूरे समाज को चित्रित करता है। उसके साहित्य में पूरा समाज आ रहा है या नहीं, महत्वपूर्ण बात यह है। इस पर आप बहस कर सकते हैं लेकिन इस पर नहीं कि कोई आदिवासी ही आदिवासी पर बहुत बढ़िया लिखेगा। आदिवासी समाज पर जो काम अपने लेखनी के माध्यम से महाश्वेता देवी और कुमार सुरेश सिंह ने किया वह काम तो जयपाल सिंह मुंडा भी नहीं कर पाए।"[38]

उनका मानना है कि हम इस बात पर तो बहस कर सकते हैं कि किसी साहित्यकार के साहित्य में सम्पूर्ण समाज और उसकी समस्याएँ आ रही है या नहीं परंतु यह कहना कि आदिवासी विषय पर कोई आदिवासी ही लिख सकता है यह गलत है। इस तरह वह साहित्य लेखन में भोगे हुए यथार्थ को तो

स्वीकारती हैं परंतु इस तर्क को नकारती हैं कि उसकी अभिव्यक्ति केवल वही कर सकता है जिसने भोगा है।

इसी सन्दर्भ में अनुज लुगुन का कहना है,

> निस्संदेह जिसने जो जिया है, जो भोगा है उसकी प्रामाणिक अभिव्यक्ति वही कर सकता है लेकिन उसे अभिव्यक्त करने का अधिकार केवल उसी का होगा, मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ। इसका मतलब यही हुआ कि जो व्यक्ति पीड़ा झेल रहा है, जो शोषित और दमित है, वह अपनी मुक्ति की लड़ाई खुद अकेले लड़े और हम उसके पक्ष में कुछ न कहें क्योंकि हमारे कहने में वह प्रामाणिकता नहीं होगी। इस तरह की अवधारणा 'सरोकार' और 'हस्तक्षेप' को नकारती है, जो कि मनुष्य के मनुष्य होने का सबसे बड़ा प्रमाण है, जो कि 'वेदना' को दूर करने का प्रयास करती है और पीड़ित के पक्ष में अपना पक्ष प्रस्तुत करती है। 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' में अंतर जरूरी है लेकिन ये दो अलग-अलग विपरीत दिशाओं में गमन नहीं करते बल्कि दोनों का गमन एक ही दिशा में होता है। एक के यहाँ मुक्ति की छटपटाहट है तो दूसरे के यहाँ उस मुक्ति के संघर्ष में शामिल होने की बेचैनी।"[39]

अनुज लुगुन स्वानुभूति और सहानुभूति के अंतर को समझते हुए भी उन्हें एक ही दिशा में बढ़ने वाले दो रूपों की तरह देखते हैं जिनका असली उद्देश्य मुक्ति की आकांक्षा है। वह इस मुक्ति की लड़ाई को व्यापक बनाना चाहते हैं वह इसे मनुष्य होने के गुण के रूप में देखते हैं कि जब कोई मनुष्य दूसरे का दुःख समझता है तो वह उसके दर्द को समाप्त करने का प्रयास करता है, तभी वह मनुष्य बनता है। इसे वह सरोकार

और हस्तक्षेप के रूप में परिभाषित करते हैं। और इस मुक्ति की लड़ाई को सामूहिक रूप से लड़ने की बात करते हैं।

आदिवासी साहित्य के विषय में केवल यही दो मत नहीं है बल्कि, जैसा कि डॉ. ममता शरण बताती हैं,

> इसमें एक तीसरा मत भी है जिनका मानना है कि 'आदिवासियत' (आदिवासी दर्शन) के तत्वों वाला साहित्य ही आदिवासी साहित्य है। तीसरी अवधारणा उन आदिवासी लेखकों की है, जो 'आदिवासियत' के तत्वों का निर्वाह करने वाले साहित्य को ही आदिवासी साहित्य के रूप में स्वीकार करते हैं। ऐसे लेखकों और साहित्यकारों के भारतीय आदिवासी समूह ने 14-15 जून 2014 को रांची (झारखंड) में आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय सेमिनार में इस अवधारणा को ठोस रूप में प्रस्तुत किया, जिसे 'आदिवासी साहित्य का रांची घोषणा-पत्र' के तौर पर जाना जा रहा है और अब जो आदिवासी साहित्य विमर्श का केन्द्रीय बिंदु बन गया है।[40]

इनका मानना है कि आदिवासी साहित्य के लिए आदिवासी दर्शन का होना जरूरी है। इस आदिवासी दर्शन के लिए या आदिवासियत की पहचान के लिए उन्होंने कुछ विशेषताएं और मूल तत्व बताए हैं:

> प्रकृति की लय-ताल और संगीत का जो अनुसरण करता हो। जो प्रकृति और प्रेम के आत्मीय संबंध और गरिमा का सम्मान करता हो। जिसमें पुरखा-पूर्वजों के ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आभार हो। जो समूचे जीव जगत की अवहेलना नहीं करे। जो धनलोलुप और बाजारवादी हिंसा और लालसा का नकार करता हो। जिसमें जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जिजीविषा हो। जिसमें सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव हो। जो धरती को संसाधन की बजाय मां मानकर उसके बचाव और रचाव के लिए खुद को उसका संरक्षक मानता हो। जिसमें रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि का विशेष आग्रह न हो। जो हर तरह की गैर-बराबरी के खिलाफ हो। जो भाषाई और सांस्कृतिक विविधता और आत्मनिर्णय के अधिकार पक्ष में हो। जो सामंती, ब्राह्मणवादी, धनलोलुप और बाजारवादी शब्दावलियों, प्रतीकों, मिथकों और व्यक्तिगत महिमामंडन से असहमत हो। जो सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना दार्शनिक आधार मानते हुए रचाव-बचाव में यकीन करता हो। सहानुभूति, स्वानुभूति की बजाय सामूहिक अनुभूति जिसका प्रबल स्वर-संगीत हो। मूल आदिवासी भाषाओं में अपने विश्वदृष्टिकोण के साथ जो प्रमुखतः अभिव्यक्त हुआ हो।[41]

इन साहित्यकारों का मानना है कि जिस साहित्य में यह सारी विशेषताएं होंगी फिर वह किसी का भी लिखा हो वह आदिवासी साहित्य कहलाएगा। दरअसल यह सारी विशेषताएं ही हैं जिनसे आदिवासी साहित्य को परिभाषित किया जा सकता है। यही वह विशेषताएं हैं जिनसे आदिवासी कविता की काव्यदृष्टि का निर्माण होता है।

यह आदिवासी काव्यदृष्टि संघर्ष और विस्थापन के दर्द से उपजी है। साथ ही इस काव्यदृष्टि के निर्माण में उनका संघर्षशील इतिहास है और उनके नायक वे हैं जिन्होंने आदिवासी समाज और उनके जल, जंगल, जमीन को बचाने के लिए जुझारू संघर्षों में अपने जीवन के बलिदान दिए हैं। आदिवासी साहित्य मौखिक परम्परा के तौर पर अपनी मूल आदिवासी भाषाओं में बहुत ही समृद्ध और विशाल है। आदिवासी साहित्य में हमें एक व्यापक गोलबंदी की आकांक्षा भी दिखाई देती है। आदिवासी कवियों के जो काव्य संग्रह आए हैं, उनमें हमें यही मुक्ति की आकांक्षा और शोषण से प्रतिकार की भावना दिखाई देती है। इनमें अपने समाज, साहित्य, संस्कृति से लगाव और उसे बचाए रखने का संघर्ष दिखाई देता है। उनमें विस्थापन की समस्या भी मुखर रूप से उभर कर आती है। ऐसे प्रतिनिधि कवि और उनके काव्य संग्रह हैं: हरिराम मीणा का *हाँ, चाँद मेरा है, सुबह के इंतजार में, रोया नहीं था यक्ष*, रणेंद्र का *थोड़ा-सा स्त्री होना चाहता हूँ*, निर्मला पुतुल का *नगाड़े की तरह बजते शब्द, अपने घर की तलाश में, फूटेगा एक नया विद्रोह*, आदि प्रमुख हैं। इन लेखकों ने आदिवासी जीवन का यथार्थ अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया है। इन्होंने आदिवासी जीवन पर मंडरा रहे खतरे को भी अपनी कविताओं में उभारा है। आदिवासी अस्मिता पर जो संकट आज के इस भूमंडलीकरण के दौर में आए हैं, वह भी इनकी कविता में जगह पाते हैं।

आदिवासी लेखन हिंदी के अस्मितावादी लेखन में सबसे बाद में उभरा है, इसलिए कहा जाए तो यह सबसे नया है। हिंदी कविता में भी आदिवासी जीवन की स्थितियों, संघर्षों को और उनकी आकांक्षाओं

को अभिव्यक्त किया जा रहा है। इसमें आदिवासी लेखकों की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। आदिवासी कविता अपने पर हो रहे शोषण और दमन के खिलाफ प्रतिरोध की जमीन तैयार करती है।

आदिवासी कविता के सरोकारों में भाषा और संस्कृति को बचाने का सवाल केंद्रीय सवालों में से है। विस्थापित आदिवासी शहरों की ओर पलायन करने पर मजबूर हुए हैं जहाँ उन्हें अभी तक वनवासी और जंगली के रूप में जाना जाता था परंतु वहां भी उनके लिए कोई जगह नहीं है शहरों में वह अपने को अजनबी पाते हैं यहाँ उन्हें अपने जीवन को बचाए रखना भी मुश्किल हो रहा है। और जो पीछे जंगलों और गाँवों में रह गए हैं वह अपने जीवन को बचाए रखने के लिए संघर्ष करने और लड़ने के लिए बाध्य हैं। यही सब आदिवासी कविताओं में अभिव्यक्त हो रहा है। यही वह कारण हैं जिनसे आदिवासी कविताओं की काव्य दृष्टि की निर्मिति हो रही है। उनका दर्द उनकी पीड़ा ही वह कारक है जो कि उनकी कविता की मूल भावना का निर्माण करते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि जो अस्मितामूलक चिंतन कविता में उभर कर आ रहे हैं, उनमें निर्मित हो रही संवेदना, उनके द्वारा सदियों से भोगी जा रही पीड़ा का ही परिणाम है। जब हम दलित कवियों की काव्य दृष्टि की बात करते हैं तो उनमें जातिवादी वर्णव्यवस्था का प्रतिकार दिखाई देता है, उनमें ब्राह्मणवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह दिखाई देता है। साथ ही एक समतामूलक समाज की स्थापना का स्वप्न भी उसमें शामिल है। शिक्षा हासिल करने के प्रति विशेष आग्रह भी हमें दलित कवियों में दिखाई देता है।

स्त्री अस्मिता की बात करें तो हम पाते हैं कि उनकी कविता की काव्य दृष्टि पितृसत्ता के खिलाफ प्रतिरोध की चेतना से निर्मित है। उनमें मुक्ति की आकांक्षा के साथ अपने को मनुष्य के रूप में पहचाने जाने का आग्रह है। साथ ही वह इस गैरबराबरी के समाज को ध्वस्त कर एक बराबरी के समाज की स्थापना के लिए प्रयासरत दिखाई देती हैं। उनकी कविताओं में स्त्री मन की संवेदनाएं जगह पाती हैं, वही उनकी काव्य दृष्टि का मूल है। आदिवासी कविता की काव्य दृष्टि अपनी अस्मिता को बचाए रखने से बनी है। उनका बाहरी समाज से कोई व्यापक संवाद नहीं था और जो बाद में चलकर बना वह मुख्यत: लुटेरे और लुटने वाले का बना। उन्हें अपनी संस्कृति अपनी भाषा सभी पर संकट नजर आ रहा है। उनकी पीड़ा साम्राज्यवादी लूट से उपजी है। जिसने उनके सामने जीवन जीने का संकट खड़ा कर दिया है। यही उनकी कविताओं में हमें दिखाई देता है। इसी से उनकी काव्य दृष्टि की निर्मिति होती है।

संदर्भ सूची

[1] राजेश जोशी, *समकालीनता और साहित्य: एक कवि की दूसरी नोट बुक*, पृ.93.

[2] अरुण कमल, *कथोपकथन*, पृ.35.

[3] नामवर सिंह, *समय सरोकार*, सितम्बर-अक्टूबर 2004, पृ.3.

[4] पुरुषोत्तम अग्रवाल, *संस्कृति: वर्चस्व और प्रतिरोध*, पृ.17.

[5] डॉ॰ कुसुम यदुलाल, *दलित शिक्षा का परिदृश्य*, कल्पज़ पब्लिकेशन, दिल्ली, 2006, पृ.22.

[6] जगदीश्वर चतुर्वेदी, 'अस्मिता,आत्मकथा और हिंदी जाति और रामविलास शर्मा', *समसामयिक सृजन*, जुलाई-सितम्बर, 2012, पृ.6.

[7] "Albeit dalit is not a caste, It is a constructed identity, which is a reality that cannot be denied। Recent studies on emerging dalit identities show that a new identity is rising, one that is determined that the dalits will not acquiesce for ever with their subordinate position, today, the subalterns communities that have been discriminated against for centuries identity themselves as dalits। They find a new identity by coming together the perspective "dalit is dignified" there by rejecting the sub human states imposed on them by the Hindu social order."
Sunita Reddy Bharati, "Dalit : A term asserting unity", *EPW,* vol।37, issue no। 42, October 19, 2002।

[8] मोहनदास नैमिशराय, *समय सरोकार*, सितम्बर-अक्टूबर 2004, पृ.4.

[9] डॉ॰ श्यौराज सिंह बैचेन और देवेन्द्र चौबे, *चिन्तन की परपंरा और दलित साहित्य*, नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग, बिहार, प्रथम संस्करण,2000, पृ.97.

[10] वही, पृ.139.

[11] जयप्रकाश कर्दम(सं.), *दलित वार्षिकी* वर्ष 2009, साहित्य संस्थान प्रकाशन, गाजियाबाद, पृ.37.

[12] माताप्रसाद, *दलित साहित्य दशा और दिशा*, भारतीय दलित साहित्य अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003, पृ.149.

[13] कंवल भारती, *दलित साहित्य की अवधारणा*, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, प्रथम संस्करण 2006, पृ.137.

[14] वही.

[15] वही.

[16] जयप्रकाश कर्दम(सं.), *दलित वार्षिकी* 2000, साहित्य संस्थान प्रकाशन, गाजियाबाद, पृ.59.

[17] डॉ. धर्मवीर, 'दलित चिंतन का विकास: अभिशप्त चिंतन से इतिहास चिंतन की ओर,' *हाशिये की वैचारिकी*, सं. उमा शंकर चौधरी, पृ.172.

[18] पुरुषोत्तम अग्रवाल, *संस्कृति: वर्चस्व और प्रतिरोध*, पृ.21.

[19] सुनील, 'रेतघड़ी' स्तंभ, *हंस*, जनवरी, 2002, पृ.83 पर उद्धृत.

[20] महादेवी वर्मा, *श्रृंखला की कड़ियाँ*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999, पृ.22.
[21] वही, पृ.23-24.

[22] जगदीश्वर चतुर्वेदी, *स्त्रीवादी साहित्य विमर्श*, पृ.204.
[23] महादेवी वर्मा, *श्रृंखला की कड़ियाँ*, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1995, पृ.66.
[24] रेखा कस्तवार, *स्त्री चिंतन की चुनौतियां*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ.20.
[25] वही.
[26] पंकज बिष्ट, *हंस,* जनवरी 1999, सम्पादकीय.
[27] स्टीफन हीथ, *मेन इन फेमिनिज्म*, पृ.4.
[28] चित्रा मुद्गल, *इंडिया टुडे*, साहित्य वार्षिकी 1997, पृ.21.
[29] मेहरुनिसा परवेज़, *इंडिया टुडे*, साहित्य वार्षिकी 1997, पृ.26.
[30] ज्योत्सना मिलन, *पूर्वग्रह-104*, पृ.59. रेखा कस्तवार, *स्त्री चिंतन की चुनौतियां*, पृ.23 से उद्धृत.
[31] अर्पिता सिंह, 'मंगलेश डबराल से इन्टरव्यू' *हंस,* मार्च 2001, पृ.21.
[32] रेखा कस्तवार, पूर्वोक्त, पृ.26.
[33] रमणिका गुप्ता, *स्त्री-विमर्श: कलम और कुदाल के बहाने,* पृ.55.
[34] रमणिका गुप्ता, 'जनजातीय अस्मिता के प्रश्न', सं. उमा शंकर चौधरी, *हाशिये की वैचारिकी,* अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, 2008, पृ.313.
[35] वीर भारत तलवार, *झारखंडी आदिवासियों के बीच: एक एक्टिविस्ट के नोट्स*, भारतीय ज्ञानपीठ, 2008, पृ.210.
[36] डॉ. रामदयाल मुंडा, *आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल*, प्रकाशन संस्थान, 2002, पृ.29.
[37] डॉ. ममता शरण, 'आदिवासी साहित्य', *डॉ. ममता शरण/कृति शरण*, 17 मई 2017, ऑनलाइन ब्लॉग, http://sinharagini12.blogspot.in/2017/05/blog-post.html?m=1 अंतिम बार देखा गया 9 जुलाई 2017.
[38] निर्मला पुतुल, सं. विष्णु नागर, *शुक्रवार साहित्य वार्षिकी* 2013, पृ.20.
[39] अनुज लुगुन, सं. विष्णु नागर, *शुक्रवार साहित्य वार्षिकी* 2013, पृ.21.
[40] डॉ. ममता शरण, 'आदिवासी साहित्य', *डॉ. ममता शरण/कृति शरण*, 17 मई 2017, ऑनलाइन ब्लॉग, http://sinharagini12.blogspot.in/2017/05/blog-post.html?m=1 अंतिम बार देखा गया 9 जुलाई 2017.
[41] डॉ. ममता शरण, 'आदिवासी साहित्य', *डॉ. ममता शरण/कृति शरण*, 17 मई 2017, ऑनलाइन ब्लॉग, http://sinharagini12.blogspot.in/2017/05/blog-post.html?m=1 अंतिम बार देखा गया 9 जुलाई 2017.

अध्याय चार

अस्मिता और काव्यवस्तु का अंतरसंबंध

अस्मितावादी चिंतन ने साहित्य के परंपरागत ढांचे में मूलभूत परिवर्तन किए हैं। इन विमर्शों ने साहित्य के बने बनाए रूढ़ काव्यागत मानदंडों को ही नहीं बदला, बल्कि इससे निर्मित काव्यदृष्टि ने काव्य के वस्तु पक्ष में भी बुनियादी बदलाव किए हैं। अस्मितामूलक चिंतन ने साहित्य में अपनी एक खास जगह इसके वस्तु पक्ष के कारण ही बनाई है। साहित्य में यह नई चेतना लेकर आया है और यह चेतना समाज के हाशिए पर धकेल दिए गए समुदायों व अस्मिताओं की है। इसमें सदियों से चले आ रहे शोषण से मुक्ति का संघर्ष है, साथ ही शोषण के व्यापक तंत्रों की पहचान भी है। यह पहचान उस सारे चक्र को समझने की भी है जिससे यह शोषण अब तक टिका रहा है। इसमें नए सिरे से समाज को गढ़ने का सपना है जिसमें किसी भी प्रकार के शोषण की जगह न हो। इसलिए शोषण की पहचान और उसके तंत्रों की समझ इन अस्मिताओं के लिए जरूरी है। हम साहित्य में देखते हैं कि इन अस्मितामूलक काव्य में शोषण के जो दायरे हैं उनसे संघर्ष दिखाई देता है। स्त्री अस्मिता के काव्य में यह पितृसत्ता के खिलाफ प्रतिरोध के काव्य के रूप में दिखाई देता है तो दलित अस्मिता में सदियों से चली आ रही ब्राह्मणवादी जाति व्यवस्था के जातिवादी ढांचे के खिलाफ नजर आता है। आदिवासी अस्मिता में यह साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और विस्थापन के खिलाफ विद्रोह के

रूप में दिखायी देता है। यह प्रतिरोध अस्मितामूलक चिंतन की साहित्यिक अभिव्यक्ति का सहज हिस्सा होता है। कविता में भी यह प्रतिरोध हमें दिखायी देता है और यह प्रतिरोध कविता की वस्तु को भी प्रभावित करता है। इसका कारण यह है कि अस्मितावादी लेखन के सरोकार व्यापक सामाजिक संदर्भों से जुड़े हुए हैं, उनमें शोषण से मुक्ति की एक स्पष्ट कामना दिखायी देती है। इन अस्मितामूलक चिंतन से जुड़े कवियों की चेतना का निर्माण उसी सामाजिक पृष्ठभूमि में हुआ है जो इस समाज ने उन्हें दी है और वह उस समाज से उसके बने बनाए सारे नियमों को उखाड़ फेंकना चाहते हैं। यह गुस्सा और शोषण की सारी प्रक्रिया हमें अस्मितामूलक कविता में दिखायी पड़ती है। अस्मितावादी कविता आर्थिक शोषण और सामाजिक गैरबराबरी के खिलाफ आत्मसम्मान की लड़ाई की कविता है। इसलिए हम देखते हैं कि इसने कविता के विषय ही बदल कर रख दिए हैं। अब तक साहित्य और कविता के विषय से बाहर के समुदायों और उनके कथ्य को यह कविता में लेकर आए। यह कविता में ऐसे-ऐसे विषय लेकर आए जिनका अब तक कविता में आना वर्जित रहा था। दरअसल इन्होंने अपनी जिंदगी को ही कविता का विषय बना लिया, क्योंकि इनका जीवन अभी तक कविता में व्यक्त नहीं हुआ था। कविता में अब तक एक रूमानियत का भाव ही समाया हुआ था जिसे इन कवियों ने तोड़ा और उसे यथार्थ के धरातल से जोड़ा। अब तक उनके विषय में जो भी यथार्थ कविता में अभिव्यक्त हो रहा था वह सहानुभूति के आधार पर दूसरे की नजर से अभिव्यक्त हो रहा था। इन्होंने कविता को व्यापक रूप से स्वानुभूति की धुरी पर टिकाया। उसमें अपने भोगे हुए यथार्थ को

पहली बार अपनी कलम से वाणी दी, जाहिर है इससे कविता के विषयों में बदलाव आया और कविता का वस्तु पक्ष बदल गया।

पिछले अध्याय में हमने यह समझने की कोशिश की कि अस्मितामूलक चिंतन की निर्मितियों की क्या प्रक्रिया रही है, जिसके चलते अस्मिता आधारित कविता में हमें वह बदलाव नजर आते हैं। अस्मितामूलक चिंतन से कवियों की जो काव्यदृष्टि निर्मित होती है वह कविता की अंतर्वस्तु को भी प्रभावित करती है। इस अध्याय में हम अस्मिता और काव्यवस्तु के अंतरसंबंध को समझने का प्रयास करेंगे।

स्त्री अस्मिता और काव्यवस्तु : पितृसत्ता

हिन्दी साहित्य में स्त्रियों के साहित्य को जगह बहुत बाद में मिली। चूंकि ज्ञान व्यवस्था में उन्हें पीछे धकेल दिया गया था, इसलिए उनका साहित्य बहुत बाद में आता है। हालांकि सुमन राजे ने *हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास* लिख कर स्त्री रचनाकारों के एक समृद्ध इतिहास की खोज की है। ज्ञान व्यवस्था में पिछड़ जाने के बावजूद स्त्रियों ने साहित्य में आज अपनी एक मजबूत पहचान बनाई है। लेखन में उन्होंने अपना इतिहास और अपनी महत्ता को रखना शुरू किया। इस तौर पर उनकी अस्मिता उभर कर सामने आई। मुख्य तौर पर यह आधुनिक दौर की परिघटना है। खासकर अस्सी के दशक के बाद स्त्री विमर्श साहित्य में उभरा

और नब्बे के दशक के बाद तो इसने साहित्य में अपनी एक महत्वपूर्ण जगह बना ली। परंतु स्त्रियों की समस्याएं साहित्य में पहले से जगह पाने लगी थीं। आधुनिक काल के प्रारम्भिक चरण में मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य में हमें स्त्रियों के प्रति यह दृष्टिकोण दिखाई देता है। फिर प्रगतिशील लेखन में भी हमें स्त्रियों की समस्याओं को लेकर लिखी गई कविताएं देखने को मिलती हैं। परंतु स्त्रियों के द्वारा लेखन बहुत कम दिखाई देता है। छायावादी युग में महादेवी वर्मा एक लेखिका के रूप में बड़ा नाम रही हैं। स्त्री अस्मिता के जो प्रश्न समकालीन कवयित्रियों ने उठाए हैं वह हमें तब नहीं दिखाई देते हैं।

स्त्रीवादी लेखन ने हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं में अपनी पकड़ बनाई। परंतु कविता में स्त्रीवादी लेखन की मौजूदगी बड़े पैमाने पर हुई। स्त्रियों के सवालों को लेकर बड़े पैमाने पर कविताएं लिखी जाने लगीं। उन्होंने सबसे पहले अपने इतिहास को खंगालना शुरू किया, उन्होंने अपने इतिहास की खोज की और उसमें अपनी भूमिका का जायजा लिया। उन्हें अपने इतिहास में शोषण की वह परतें दिखाई दीं जिनसे अब तक उनके ऊपर दमन किया जाता रहा है। इसलिए उनकी कविताओं में अपने इतिहास की समझ और पितृसत्ता के प्रतिरोध का संकल्प दिखाई देता है। स्त्री अस्मिता की कविता स्त्रियों के अतीत और वर्तमान की पीड़ाओं का एक दस्तावेज भी है। साथ ही भविष्य के सुन्दर स्वप्न भी उनकी कविताओं में जगह पाते हैं। इन्हीं से स्त्री अस्मिता की विषय वस्तु की निर्मिति होती है।

स्त्री अस्मिता इतिहास में अपने ऐसे चरित्रों की खोज करती है जिन्होंने इस पितृसत्ता से लोहा लिया है। कात्यायनी अपनी कविता 'गार्गी' में गार्गी द्वारा किए गए प्रश्नों की वजह से उसका सिर काट दिए जाने को इस पितृसत्ता के क्रूरतम अपराधों के रूप में दर्ज करती हैं। गार्गी यदि प्रश्न नहीं करती और इस पितृसत्ता के नियमों के अनुसार अपना जीवन परिवार के हित में जीती तो उसे भी त्याग और तप की मूर्ति बना पूजा जाता।

'मत जाओ गार्गी प्रश्नों की सीमा से आगे
तुम्हारा सिर कटकर लुढ़केगा ज़मीन पर,
मत करो याज्ञवल्क्यों की अवमानना,
मत उठाओ प्रश्न ब्रह्मसत्ता पर,
वह पुरुष है!
मत तोड़ों इन नियमों को।'[1]

परन्तु वह ऐसा नहीं करती और उसका वध कर दिया जाता है। यह पितृसत्तात्मक समाज है जो स्त्रियों को शिक्षा से वंचित करता है। उन्हें सोचने की आज़ादी नहीं देता यहाँ तक कि यदि कोई स्त्री पढ़ जाती है और वह इस व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाती है तो उसकी हत्या कर दी जाती है। गार्गी इसका उदाहरण है और यह स्त्री कवियों की कविताओं में दिखाई देता है। अब तक इस तरह के चरित्र या तो कविता में नहीं आ रहे थे

या फिर उन्हें इस तरह से प्रस्तुत किया जा रहा था कि वह पितृसत्ता की इस व्यवस्था पर कोई प्रश्न न खड़े करें।

पितृसत्ता ने स्त्रियों को विभिन्न धार्मिक, सामाजिक नियमों के तहत उनके अधिकारों से वंचित कर दिया। उन सभी नियमों का मकसद केवल स्त्रियों को पुरुष के अधीन बनाए रखना था। अगर स्त्री उन नियमों का पालन नहीं करती तो उसे धर्म और मृत्यु, पाप और पुण्य का डर दिखा कर उससे जबरन पालन करवाया गया। अनीता वर्मा अपनी कविता 'नियम' के माध्यम से पितृसत्ता और इन महान सभ्यताओं के तथाकथित इतिहास को फिर से समझने का काम करती हैं। वह कहती हैं कि इन महान सभ्यताओं ने कैसे-कैसे तर्क गढ़े हैं केवल शक्ति और अधिकारों पर अपना वर्चस्व बनाने के लिए।

'जो नियम सभ्यता ने बनाये हैं उनका इतिहास है
तुम खोज सकते हो उनका तर्क
कुछ का प्रमाण भी कि वे बने होंगे क्यों इसी तरह
वे शक्ति और अधिकार के खेल हैं
उनके नीचे कुचला हुआ आता है जीवन'[2]

कुछ लोग उन नियमों के पीछे सभ्यताओं की अच्छी मंशा को भी खोज लेते हैं और उनके पक्ष में विभिन्न तर्क खोज ले आते हैं। परन्तु उनका असली मकसद स्त्रियों को उनके अधिकारों से वंचित करना ही है। ताकि स्त्रियों को पुरुष के अधीन रखा जा सके। इन नियमों को संस्थागत करने में धर्म की भी भूमिका रही है इसलिए

स्त्री अस्मिता की कविताओं में धर्म पर भी सवाल खड़े किए गए हैं। उन्हें जिस आस्था के नाम पर सदियों से धोखा दिया गया है वह उस आस्था को भी अब भली भांति समझती हैं, क्योंकि जहाँ आस्था होती है वहां तर्क नहीं चलता जबकि चेतन स्त्रियाँ अब हर चीज तर्क की कसौटी पर परखना चाहती हैं। इसलिए कात्यायनी 'आस्था का प्रश्न' कविता में कहती हैं- 'तर्क नहीं होता/ आस्था के प्रश्न पर/आस्था का न्याय से कोई सम्बन्ध नहीं होता।'[3] इसलिए वह अब इस आस्था के जाल में फंसना नहीं चाहती हैं। क्योंकि इस आस्था के नाम पर कुछ भी किया और करवाया जा सकता है। वह कहती है कि इस आस्था की आँखें नहीं होती हैं। यह आप से सोचने समझने की शक्ति छीन लेती है।

स्त्री अस्मिता की कविता में हमें ईश्वर का नकार भी दिखाई पड़ता है। दरअसल इसी ईश्वर के नाम पर उन्हें सदियों से बंधक बनाया हुआ है। कभी ईश्वर का डर दिखा कर तो कभी ईश्वर की बनी हुई व्यवस्था को नकारने पर ईश्वर के नाम पर तरह-तरह के दंड दिए जाने को लेकर, और कभी स्वर्ग और नर्क के चक्कर में फंसा कर। उन्हें ईश्वर के नाम पर बहुत प्रताड़ना झेलनी पड़ी है इसलिए उन्हें ईश्वर से अब कोई उम्मीद नहीं है कि वह उन्हें शोषण से मुक्ति दिलाएगा। अनामिका अपनी कविता 'लम्बी छुट्टी पर है ईश्वर' में कहती हैं: 'लम्बी छुट्टी पर/ चला गया है ईश्वर!'[4] ईश्वर का यह नकार दरअसल स्त्रियों को मिलने वाली शिक्षा द्वारा उनमें उत्पन्न हुई चेतना का ही परिणाम है। अब तक उन्हें शिक्षा से वंचित रखा गया था परन्तु समाज में

लोकतान्त्रिक मूल्यों के विकास ने बराबरी के मूल्यों को जब समाज में स्थापित किया तो उसे स्त्रियों को भी कुछ अधिकार मिले जिनमें से एक शिक्षा हासिल करना है।

शिक्षा के इस महत्त्व को सभी स्त्री रचनाकारों ने स्वीकार किया है परन्तु दलित स्त्री रचनाकारों ने स्त्री शिक्षा को लेकर किए गए सावित्रीबाई फुले के प्रयासों को विशेष रूप से महत्त्व दिया और उन्हें अपनी कविता में विशेष स्थान दिया है। रजनी तिलक सावित्रीबाई फुले के विषय में लिखती हैं:

'सावित्रीबाई फुले
तुम्हारा जीवन एक कसौटी है
तुमने पहली बार
लड़कियों को स्कूल की राह दिखाई।
तुम्ही बनी स्त्री मुक्ति की लौ,
अभाव और कष्टों में रह कर
संचेतना का बीज अंकुरित किया।'[5]

स्त्री रचनाकार अपने नायक और नायिकाओं को पहचान कर उन्हें उचित स्थान देती हैं जिन्होंने अतीत में उनके लिए संघर्ष किया। परन्तु केवल ऐसा ही नहीं है कि इनकी कविताओं में अतीत ही जगह पाता हो। वर्तमान की समस्याएं भी इनकी कविताओं में उठायी जाती हैं। आज आधुनिक कहे जाने वाले समाज में भी स्त्रियों के लिए कोई जगह नहीं है उन्हें पैदा होने से पहले ही गर्भ में मार दिया जाता है और यदि वह बड़ी

हो भी जाती हैं तो समाज में उनके प्रति हिंसा की प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ ही रही है। वह कहीं भी सुरक्षित नहीं हैं। स्त्रियों की बलात्कार की घटनाएँ गाँव हो या शहर लगातार बड़ी ही हैं। स्त्रियों का अनुपात पुरुषों के मुकाबले लगातार कम ही हो रहा है। ऐसे में स्त्रियाँ समाज में बची हुई हैं, यह भी एक अचम्भे से कम नहीं है। इसी सन्दर्भ में सविता सिंह कहती हैं:

'नमन करूँ इस देश को
जहाँ मार दी जाती हैं हर रोज़
ढेर सारी औरतें
जहाँ एक औरत का जीवित रहना
एक चमत्कार की तरह है'[6]

स्त्री रचनाकारों ने न केवल अपने अस्तित्व और अपनी अस्मिता की पहचान की है बल्कि समकालीन समाज की तमाम तरह की विसंगतियों को भी अपनी कविता में उजागर किया है। इन्होंने आज के दौर में भूमंडलीकरण, बाजारीकरण से पैदा हुए खतरों को भी पहचाना है। जिसने स्त्रियों को वस्तु में तब्दील कर दिया है। इसलिए रमणिका गुप्ता कहती हैं कि "स्त्री-विमर्श या उसका साहित्य, स्त्री को वस्तु से व्यक्ति बनाने की मुहिम चला रहा है। वह स्त्री को वर्जनाओं के घेरे से निकाल कर मुक्त होने की इच्छा जगाने का प्रयास करता है।"[7] स्त्री रचनाकारों ने स्त्री को स्त्री की तरह देखे जाने को ही अपनी कविता में दर्शाया है। साथ ही

इस आधुनिक समाज ने स्त्रियों को घर से बाहर तो निकाला है परन्तु उससे जुड़ी कुछ समस्याएं हैं जिन्हें अभी सही करना बाकी है। गगन गिल कामकाजी औरतों की समस्याओं को सामने रखती हुई कहती हैं:

'दफ़्तर की लड़कियों के
बड़े होते हैं बहन-भाई उनसे दूर,
फिर उनके बच्चे बढ़ते हैं उनसे स्वतन्त्र,
पहचानना सीखते हैं उनका मुँह देर बाद,
और भूलना सीख जाते हैं पहले ही दिन
सिर्फ तीन महीनों के लिए माँ बनती हैं लड़कियां'[8]

स्त्री रचनाकारों ने स्त्री स्वतंत्रता, समानता और स्त्री अस्मिता से जुड़े सवालों को कविता का विषय बनाया। अब तक स्त्रियों का वर्णन कविता में प्रेमिका के रूप में, देवी के रूप में, या भोग्या के रूप में होता आया है। स्त्रियों के विषय को कविता में श्रृंगारिक प्रवृत्ति को बढ़ाने के लिए किया जाता रहा है। स्त्रियों ने आज के समय में अपनी देह से जुड़े सवालों को भी कविता का विषय बनाया है। उन्होंने सारी वर्जनाओं को तोड़कर अपने हिस्से के आसमान को पाने के लिए संघर्ष की प्रवृत्ति को अपनी कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

आधुनिक समय में स्त्रियों ने अपनी अस्मिता के प्रति ज्यादा सचेत रूप से कविता की सृजना की है। वह इस समाज की स्त्रियों के प्रति असंवेदनशीलता को सामने लाती हैं और उस प्रक्रिया को हमारे सामने

रखती हैं जब एक लड़की को औरत में तब्दील किया जाता है। एक स्त्री उस प्रक्रिया को बखूबी समझती है, जहां एक लड़की की एक स्त्री के रूप में निर्मिति होती है। वह जेंडराइजेशन की पूरी प्रक्रिया को सामने लाती है कि कैसे बचपन से लड़कियों के मन में भय पैदा किया जाता है। अनिता वर्मा की कविताएं इस जेंडराइजेशन की प्रक्रिया को दर्ज करती हैं। घर में बचपन से एक स्त्री के भीतर एक भय की निर्मिति की जाती है। किसी को गुलाम बनाने में भय की बड़ी भूमिका होती है। इसमें धर्म, संस्कृति और परंपराएं अपनी-अपनी भूमिका निभाती हैं। एक स्त्री के मन में बचपन से बड़े होने तक उसका भय बड़ा होता रहता है:

‘उनके साथ-साथ
शरीर और आत्मा को बचाने की कला
वे शुरू से सीखती आई हैं
भीड़ में कुहनियों को अपनी ढाल बनाए
दफ्तरों में सख्त चेहरे लिए
वे अपने भय की रखवाली करती हैं
उनके प्रेम में भी भर दिया गया है भय
और तुम जहां उन्हें निर्भय देखते हो
जहां वे बेखटके चली आती हैं झुंड की झुंड
वहां भी उन्होंने भय के ही बनाए हैं हथियार’[9]

एक स्त्री समाज में कई तरह के शोषण को झेलती है। एक स्त्री होने के नाते उसका शोषण पितृसत्तात्मक समाज से होता है, साथ ही अगर वह दलित स्त्री है तो उसका शोषण दोहरा हो जाता है। सुशीला टाकभौरे की कविताओं का विश्लेषण करते हुए वीरभारत तलवार कहते हैं:

> स्त्रियों पर बन्दिशें हर एक सामाजिक वर्ग में भी एक जैसी नहीं हैं, उनकी हद में फर्क है। दलित स्त्री की समस्या दलित होने के कारण भी है। लेकिन स्त्री चेतना उसमें पितृसत्तात्मक व्यवस्था में विरोध के कारण है। खुद उसकी दलित जाति में भी यही व्यवस्था है दोनों तरह की चेतना का कुछ आपसी मेल भी है, लेकिन इसके बावजूद उनके अपने-अपने स्वायत्त आधार क्षेत्र हैं। सुशीला टाकभौरे मशहूर दलित कवयित्री हैं। उनका कविता-संग्रह 'तुमने मुझे कब पहचाना?' दलित चेतना से कहीं ज्यादा उनकी स्त्री चेतना को अभिव्यक्त करता है। इस संग्रह में वे एक दलित की हैसियत से नहीं, एक स्त्री की हैसियत से खुद को पहचानती हैं और न पहचानने के लिए जिन पुरुषों को वे कटघरे में खड़ा करती हैं, उनमें दलित पुरुष भी हैं, बल्कि वे ही हैं। उनकी यह स्त्री-चेतना किसी भी गैर-दलित स्त्री की चेतना से मेल खाती है।[10]

दलित स्त्री होने के कारण वह जिस दोहरे शोषण को झेलती हैं, वह उनकी कविताओं में हमें दिखाई देता है। परंतु उनकी स्त्री चेतना उनकी सभी कविताओं में दिखाई देती है। उनकी कविता 'पीड़ा की फसलें' के द्वारा इसे समझा जा सकता है

'ओ शबरी के राम!

आँखें चुराकर

संवेदना दिखाना बन्द करो

तुम्हीं ने तो सीता को

धरती में समा जाने को मजबूर कर दिया था

तब से

विश्वास, भक्ति और प्रेम से पगी सीता

बार-बार

धरती में दफ़नाई जाती रही है

इसीलिए

पीड़ा की फसलें

उगती रही हैं—

पर आज

जानकी सब जान गयी है

वह धरती में नहीं

आकाश में जाना चाहती है

देवकी की कन्या की तरह

बिजली-सी चमक कर

सन्देश देना चाहती है—

तुम्हारी कंसीय मानसिकता के अन्त का'[11]

उनकी कविता में हमें दलित होने का संताप और स्त्री होने की पीड़ा दोनों दिखाई देते हैं। सुशीला टाकभौरे की कविताओं में प्रतिरोध का विस्तार और बिखराव दोनों दिखता है। उनकी कविताएं दलित प्रतिरोध और दलित महिलाओं के प्रतिरोध की कविताएं हैं। इस दोहरे शोषण को वह अपनी कविताओं में अच्छे से अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं।

शोषण के विभिन्न ढांचों के अंतर्संबंधों पर चोट करती स्त्री अस्मिता की कविता की यह विशेषता, एक सार्वभौम नजरिए का दावा करती दिखाई पड़ती है। जैसा कि सविता सिंह कहती हैं, "अस्मिताओं की मुक्ति की छटपटाहट और अभिव्यक्ति की उत्कट आकांक्षा के बीच स्त्री मुक्ति की सार्वभौम आवाज़ ने समाजों और संस्कृतियों में जो जगह बनाई है वह हिंदी कविता में भी महसूस की जा सकती है।"[12] इस तरह, समकालीन हिंदी कविता के स्त्री स्वर में विमर्श की जटिल गहराइयों में उतरने और उसमें बराबरी के स्तर पर भागीदारी करने का आत्मविश्वास दिख रहा है।

दलित अस्मिता और काव्यवस्तु : जाति-वर्ण व्यवस्था

हिंदी में दलित साहित्य का लेखन मराठी दलित साहित्य के प्रभाव स्वरूप प्रारंभ होता है। दरअसल महाराष्ट्र में महात्मा फुले और डॉ. आंबेडकर जैसे नेताओं के नेतृत्व में आत्मसम्मान, स्वाभिमान, और

राजनीति तथा समाज में भागीदारी और बराबरी की मांग को लेकर आन्दोलनों का एक समृद्ध इतिहास रहा है। उन आन्दोलनों में समाज में आमूल-चूल बदलाव करने की प्रेरणा थी। इसके परिणाम स्वरूप मराठी साहित्य में दलित चेतना हिंदी की अपेक्षा पहले आई। इसके विपरीत हिंदी भाषी क्षेत्र में उस तरह के दलित आन्दोलन दिखाई नहीं देते। हिंदी भाषी क्षेत्र में जो आन्दोलन दिखाई देते हैं उनमें समाज को आमूलचूल परिवर्तन करने की भावना की जगह प्राय: कुछ सुधारवादी दृष्टिकोण दिखाई देते हैं। मिसाल के लिए दयानन्द सरस्वती का आंदोलन, जिन्होंने पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मेरठ और सहारनपुर तथा पंजाब को अपना कार्य क्षेत्र बनाया, इसी सुधारवादी दृष्टिकोण का आन्दोलन था। सरस्वती वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर थे, वह बस उसमें कुछ सुधार लाना चाहते थे। जैसा कि रमणिका गुप्ता कहती हैं, "इसका एक कारण यह भी है कि हिंदी पट्टी में दलित सवर्णों के मंच पर राजनीति या राजसत्ता में आए और पनपे, जबकि महाराष्ट्र में उन्होंने स्वतन्त्र राजनीतिक सत्ता का नेतृत्व किया भले विपक्ष में ही रह कर।"[13]

अपवाद में हमें कुछेक आंदोलन दिखाई देते हैं, जैसे कि 19वीं सदी में उत्तर प्रदेश में स्वामी अछूतानन्द ने आदि हिन्दू आन्दोलन चलाया जिसने जाति व्यवस्था के खिलाफ लिखे साहित्य का प्रचार-प्रसार किया। इसके बावजूद, मोटे तौर पर रमणिका गुप्ता का यह आकलन सही है कि महाराष्ट्र में दलितों का जो विकास हुआ वह उन्होंने अपने बल पर किया न कि हिंदी भाषी क्षेत्र के दलितों की तरह सवर्णों पर आश्रित हो कर। आगे चल कर इस क्षेत्र के दलितों का जुड़ाव समाजवादी राजनीति से और कांशीराम द्वारा

चलाए गए आन्दोलन से हुआ। दलित-बहुजन कांशीराम और मायावती की पार्टी बहुजन समाज पार्टी से जुड़ गए। परन्तु वह भी सवर्णों के मेलजोल से ही सत्ता और विपक्ष में आते-जाते रहे, उन्होंने जाति व्यवस्था के खिलाफ कोई आन्दोलन नहीं खड़ा किया। एक व्यापक वैचारिक आन्दोलन का आभाव इस क्षेत्र में हमेशा बना रहा, जिसके कारण दलित चेतना का जो विकास इस क्षेत्र में होना था वह नहीं हो पाया।

इस कारण हिंदी क्षेत्र में दलित साहित्य भी देर से आया। इसके अलावा, 1980 के दशक से पहले दलितों द्वारा जो साहित्य लिखा भी गया, उसे हिंदी के संस्थागत साहित्य द्वारा नजरअंदाज कर दिया गया। वैसे तो रैदास, कबीर आदि दलित रचनाकार मध्यकाल में दिखाई देते हैं जिन्होंने जाति के बन्धनों से मुक्ति की बात कही और वर्ण व्यवस्था पर चोट की। आधुनिक काल में सबसे पहले दलित कवि के रूप में हीरा डोम जाने जाते हैं जिनकी 'अछूत की शिकायत' कविता सितम्बर 1914 में *सरस्वती* पत्रिका में छपी थी। परन्तु उसके बाद हिंदी में दलित रचनाकारों की रचनाएँ न के बराबर प्रकाशित हुई। हालाँकि आज उन सभी रचनाकारों की रचनाओं को खोज कर प्रकाशित करने का काम भी किया जा रहा है जो इतने लम्बे समय के अन्तराल में गुमनामी के अँधेरे में रहे।

हिंदी कविता में दलित साहित्य 1980 के दशक के बाद अपनी अस्मिता के साथ सामने आता है। इनकी कविता में, ओम प्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में कहें तो, सदियों से झेला गया संताप दिखाई देता है। इन्होंने कविता की अंतर्वस्तु में परिवर्तन लाया है, जिसके कारण कविता का वस्तु पक्ष बदल गया है। दलित

अस्मिता आधारित चिंतन ने हिंदी कविता में कुछ बुनियादी बदलाव किए हैं। इसने कविता को जीवन की ऐसी सच्चाइयों की ओर मोड़ा है जो अभी तक कविता में अभिव्यक्त नहीं हो रही थीं। साहित्य का पूरा उपक्रम अब तक सवर्ण साहित्यकारों के हाथ में था, इसी कारण उसमें दलित लोगों का जीवन उस तरह नहीं आ पा रहा था जैसा कि आना चाहिए था।

दलित रचनाकारों ने वर्ण व्यवस्था पर सवाल खड़े किए और साथ ही उस धर्म पर भी सवाल खड़े किए जिसने उनके शोषण को कायम रखा है। उनकी कविता ईश्वर के अस्तित्व पर सवाल उठाती है। दलित अस्मिता की कविता में पहले पहल ईश्वर से सवाल हैं कि उसने मानव मानव में भेद क्यों किया है। हालाँकि यह प्रश्न हमें हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' में भी दिखाई देता है। परन्तु धीरे-धीरे दलित यह समझने लगते हैं कि यह ईश्वर भी सवर्णों का ईश्वर है इसलिए बाद में उनकी कविताओं में ईश्वर की सत्ता पर ही प्रश्नचिह्न लगाए गए। हालाँकि ईश्वर को नकारने के बावजूद बहुत से दलित कवियों में धर्म का पूर्ण नकार नहीं मिलता, उनका झुकाव डॉ. आंबेडकर की वजह से बौद्ध धर्म की ओर रहा है।

ईश्वर का यह नकार आधुनिक चेतना का भी प्रतीक है जो कि दलितों में शिक्षा और लोकतान्त्रिक मूल्यों की वजह से आ रही थी। मोहनदास नैमिशराय ऐसे ही कवि हैं जो कि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वह अपनी कविता में ईश्वर की मौत की घोषणा करते हैं:

'ईश्वर की मौत

उस दिन होती है

जब बनता है कोई मंदिर या मठ।

जहां बैठता है कोई

ठग,

लुटेरा,

गुमराह करने वाला।

ईश्वर की मौत

उस दिन होती है

जब किसी महिला को बनना पड़ता है

देवदासी

जाना पड़ता है वेश्यालय।

ईश्वर की मौत

उस पल होती है

जब मेरे भीतर उभरता है सवाल-

ईश्वर का जन्म

किस माँ की कोख से हुआ था?

ईश्वर का बाप कौन?'[14]

दलित कविता में ईश्वर का नकार इसलिए है क्योंकि ईश्वर के नाम पर उन्हें सदियों से ठगा जा रहा है। इस ईश्वर के नाम पर समाज में सारे ग़लत काम किए जा रहे हैं, मन्दिर बना कर उसके नाम पर साधारण मनुष्यों

को लूटा जा रहा है। ईश्वर के कारण न केवल दलितों को बल्कि महिलाओं को भी तरह-तरह के शोषण के जाल में फंसाया जाता है और ईश्वर इसे देखता रहता है और कुछ नहीं करता है। इसलिए वह ईश्वर की मौत की घोषणा कर देते हैं क्योंकि इसी ईश्वर के नाम पर उन्हें कभी न प्राप्त होने वाले स्वर्ग के झांसे में रख कर उनके शोषण को चिरस्थायी बनाया गया है। उनकी बदतर हालत को पिछले जन्म का परिणाम बताया गया है। दलित हिन्दू धर्म का हिस्सा है परन्तु उसका ईश्वर पर सामान अधिकार नहीं है। उसका मंदिरों में जाना भी वर्जित है। इसलिए, जैसा कि जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं, "दलित साहित्य भविष्य के सुख की कल्पना में वर्तमान के सुख का त्याग करने को पागलपन मानता है। दलित साहित्य की मान्यता है कि व्यक्ति को अपने वर्तमान को सुंदर और सुखी बनाने के प्रति सचेत एवं सक्रिय रहना चाहिए।"[15]

दलित यह समझ गए हैं कि अगले जन्म के सुख के लिए इस जन्म को नहीं छोड़ा जा सकता। दलित सजग हो गए हैं और अपनी प्रगति और विकास के लिए प्रयास कर रहे हैं। दलित कविता में यह स्वयं के प्रति आत्मचेतन का भाव दिखाई देता है वह अपनी प्रगति और विकास की बात करते हैं। कँवल भारती अपनी कविता 'मातृभूमि' में कहते हैं:

'विकसित हो अब नई चेतना
दलित-उत्थान हो लक्ष्य हमारा
अब सारे बलिदान हमारे
अर्पित हों निज के विकास पर।'[16]

दलित कवि शिक्षा, स्वतंत्रता और संगठित होने पर बल देते हैं। दलित अस्मिता की कविता समाज में दलितों को अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक करती है। वह दलितों की पहचान समाज में कामगार तबके के रूप में करती है। जिसे अब तक उसकी मेहनत का हक नहीं दिया गया है। वह अब दलितों को चेतनशील बनाती है और वह कहती है कि दलित अब अपनी मेहनत का फल अपने द्वारा किए गए श्रम और उसमें लगी उसकी ऊर्जा के अनुपात में ही लेगा। वह दलितों को स्वावलंबी बनाने के पक्ष में है, वह अपनी मेहनत के बल पर अपना हक़ लेने में यकीन रखती है। यह कविता दलितों को उनकी मेहनत और श्रम पर अभिमान करना सिखाती है। इसे ओम प्रकाश वाल्मीकि की कविता 'वह मैं हूँ!'से समझा जा सकता है:

'मुँह-अँधेरे बुहारी गई सड़क में
जो चमका है-
वह मैं हूँ!

कुशल हाथों से तराशे
खिलौने देखकर
पुलकित होते हैं बच्चे
बच्चे के चेहरे पर जो पुलक है-
वह मैं हूँ!

**

पेड़ों में

नदी का जल

धूप-हवा में

श्रमिक-शोणित गंध

बाढ़ में बह गयी झोपड़ी का दर्द

सूखे में दरकती धरती का बाँझपन

वह मैं हूँ

सिर्फ मैं हूँ!!!'[17]

दलित कवि साहित्य के महत्त्व को भी समझते हैं। वह जानते हैं कि उनकी पीड़ा की सघन संवेदनाओं की अभिव्यक्ति उन्हें ही करनी है और इसे एक आन्दोलन की तरह उन्हें अपनाना होगा। इसलिए कवि मोहनदास नैमिशराय शब्दों के महत्त्व को समझाते हुए कहते हैं:

'तुम्हारे पास केवल शब्द हैं

उन्हीं को तुमने आंदोलन बनाना है

क्रांति हथियारों से नहीं

शब्दों से आती है।'[18]

दलित कवि इसको लेकर सजग हैं कि युगों-युगों से चली आ रही प्रताड़ना ख़त्म नहीं हुई है। आज भी दलितों के खिलाफ हिंसा बदस्तूर चली आ रही है। उनकी बस्तियां जला दी जाती हैं। उन्हें सवर्ण ब्राह्मणवादी

लोग अपने जातिवादी दंभ में विभिन्न तरह से मौत के घाट उतार देते हैं जिस पर यह सभ्य समाज मौन साधे रहता है। असंगघोष 'तेरा प्रतिशोध' कविता में दलितों की गाय के नाम पर हत्या के बारे में लिखते हैं:

'दरख्तों के पार
सड़क किनारे
मरी पड़ी थी
गाय
जिसकी खाल उतार कर
लौट रहे थे
टेम्पो में / चमड़ा धरे
कुछ कर्मशील लोग
धर्मोन्माद से भरी
चिल्लाती भीड़ ने
उन्हें रास्ते में
रोक ही लिया
कुछ चीखे / और चिल्लाए भी
इन चमारों ने
गाय मार दी है
जिन्दा चीर कर

चमड़ा उतार लिया है

धर्मोन्मादियों द्वारा

जैसे

यह सब पूर्व नियोजित हो

भीड़ एकजुट हो

मार डालती है

इन दलितों को

ठीक दशहरे के दिन'[19]

दलित कविता इतिहास का उत्खनन करती है। वह ब्राह्मणवादी, वर्चस्ववादी परंपरा और इतिहास को चुनौती देती है और अपनी एक अलग परम्परा का निर्माण करती है। वह बुद्ध, कबीर, महात्मा फुले और डॉ. आंबेडकर से अपनी परंपरा को जोड़कर देखती है। इतिहास की तलाश, अपनी परंपरा की निर्मिति, और अपने संघर्ष के नायकों की पहचान हमें दलित कविता की वस्तु के रूप में दिखाई देते हैं। कँवल भारती की कविता 'चौदह अप्रैल' इसी को दिखाती है, जहाँ वह डॉ. आंबेडकर के जन्म दिन को मानते हुए उन्हें अपने नायक और मसीहा के रूप में याद करते हैं:

'चौदह अप्रैल

एक स्मरण दिवस

उस मसीहा का

जिसने फूंके थे प्राण

मूकों को प्रदान की थी शक्ति

बोलने की-

ऊंचे स्वर में बोलने की,

निर्भीक स्वर में बोलने की,

स्वाभिमान के स्वर में बोलने की,

अन्याय के खिलाफ

अत्याचार के खिलाफ

शोषण के खिलाफ

दमन के खिलाफ''[20]

इस तरह हम देखते हैं कि दलित अस्मिता की कविताओं में अपने नायकों के प्रति आदर का भाव है। क्योंकि उन्होंने दलितों के अन्दर आत्मसम्मान का भाव पैदा किया और उसके लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। दलित कविता सामाजिक बराबरी और आत्मसम्मान को मुख्य सवाल के तौर पर उभारती है। दलित कविता आर्थिक और राजनीतिक बराबरी की बात भी करती है परन्तु यह उसका मुख्य स्वर न होकर उसका गौण स्वर है। कँवल भारती लिखते हैं, ''गरीबी नहीं/ सामाजिक बेइज्जती अखरती है।''[21]

दलित कविता में सदियों की पीड़ा उभर कर आती है। इसकी विषयवस्तु के रूप में गाँव का चित्रण उभरता है परन्तु वह गाँव सवर्णों के गाँव नहीं है जो खुशहाली के प्रतीक के रूप में सवर्णों की कविता में

आते हैं बल्कि दलित कवियों की कविता में गाँव उस शोषण और दमन की यादों के रूप में आते हैं जहाँ उन्हें गाँव से बाहर रहने के लिए मजबूर किया गया। जहाँ उन्हें बहिष्कृत जीवन जीना पड़ा। जहाँ गाँव के बाहर अलग बस्तियों में वे रहने को मजबूर होते हैं, उनका कुआँ अलग, यहाँ तक कि उनका शमशान भी अलग होता है। दलित कविता का गाँव एक अलग गाँव हैं। मोहनदास नैमिशराय एक ऐसे ही गाँव का खाका पेश करते हैं, जहाँ बताए गए विवरण की तुलना में यथार्थ उल्टा है:

'गाँव में शांति है
पर मरघट है
कुएं की तरह जिस पर
दलितों की पहचान लिख दी गई है
गाँव में शांति है
दस लाशें अभी तक
उसी मरघट में
फूँक दी गई हैं।
औरतों ने
अपनी-अपनी चूड़ियाँ तोड़ दी हैं।
गाँव में शांति है।'[22]

इस तरह देखें तो दलित अस्मिता एक झूठे, कल्पित और मिथकीय दुनिया को चुनौती देने, उसे उजागर करने और कड़वे, ठोस यथार्थ को पेश करने की कविता है। साथ ही, इसमें झूठी चेतना पर निर्मित आदर्शों और जाति व्यवस्था को समाप्त कर समानता, स्वतंत्रता, और भाईचारे की भावना को स्थापित करने का स्पष्ट आग्रह है।

आदिवासी अस्मिता और काव्यवस्तु : साम्राज्यवादी हस्तक्षेप

अपने विकास के प्रारंभिक चरणों में विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों व समाजों का विकास प्रकृति और परिवेश के साथ तालमेल स्थापित करके हुआ है। जिन समुदायों का अपने परिवेश और प्रकृति के साथ जैसा सम्बन्ध रहा समाज विकास की प्रक्रिया में उनका विकास उसी प्रकार हुआ। क्योंकि भिन्न-भिन्न समाजों का प्रकृति और परिवेश से सम्बन्ध भिन्न-भिन्न रहा है, इसलिए भिन्न-भिन्न समाजों की विकास प्रक्रियाएँ भी भिन्न-भिन्न रही हैं। समाजों के जीवन रूपों का निर्धारण, कई सालों में विकसित हुई इन्हीं विकास प्रक्रियाओं का प्रतिफलन रहा है। इसलिए पूरी दुनिया में विकास विविधतापूर्ण रहा है।

इस विकास प्रक्रिया की अपनी यात्रा में कुछ सभ्यताएं समाज में ऐसे दर्शन और विचार लेकर आयीं जिसके बल पर उन्होंने दुनिया में अपने वर्चस्व को स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने ऐसे समाज और

सभ्यताओं के दर्शन को नष्ट कर दिया जो दुनिया की विकास प्रक्रिया की एक भिन्न पद्धति को प्रस्तुत करते हैं। या कहें जिनका प्रकृति के साथ सीधा और सच्चा रिश्ता था, उन्हें नष्ट कर दिया गया। यह प्रक्रिया दुनिया भर में जारी रही, जिसमें वर्चस्वशाली समाज ने दूसरे गैर-वर्चस्वशाली समाजों को नष्ट कर उन पर अपना वर्चस्व स्थापित किया। इस वर्चस्व को स्थापित करने का मुख्य कारण विभिन्न सभ्यताओं और समाजों की विस्तारवादी दृष्टि रही। यह दृष्टि प्रकृति पर भी अपना वर्चस्व स्थापित करके उसका दोहन मनमाने तरीकों से करना चाहती है। इस तरह हम देखते हैं कि अपनी ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया के दौरान प्रकृति के खिलाफ जाकर जिन्होंने अपने जीवन को विकसित किया, उन्होंने एक भिन्न सभ्यता का निर्माण किया। इस सभ्यता के निर्माण में ही असमानता के तत्व मौजूद हैं। इस प्रक्रिया से बनने वाला समाज वर्चस्वशाली और असमानता पर आधारित समाज है।

इसके विपरीत हम देखते हैं कि आदिवासी समाज दुनिया में किसी एक जीवन पद्धति पर आधारित नहीं है। वे दुनिया भर में अलग-अलग जीवन पद्धतियों के अनुसार अपना जीवन निर्वाह करते हैं। परन्तु इन भिन्न जीवन पद्धतियों के बीच भी जीवन-रूपों की समरूपता देखने को मिलती है। इस समरूपता का आधार उनका प्रकृति से सम्बन्ध ही है। अपने परिवेश में आदिवासी समुदाय कभी भी विस्तारवादी नहीं रहा है। इसलिए प्रकृति के साथ उनके संबंधों में अंतरंगता और निकटता है। इस लिहाज से हम आदिवासी समाज के रूप में उन्हीं समुदायों को चिह्नित करते हैं जो प्रकृति के ज्यादा नजदीक हैं और जिन्होंने प्राकृतिक जीवन-

रूपों को अपनाया है। प्रकृति के साथ संवाद का बढ़ जाना आदिवासीकरण का एक महत्वपूर्ण निर्धारण है। और प्रकृति के खिलाफ हो जाना गैर-आदिवासीकरण की प्रक्रिया है।

हर समुदाय अपने उद्भव से अपने परिवेश और प्रकृति से संवाद करता हुआ आदिवासी रहा होगा। परन्तु ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया के दौरान जो मानव समुदाय प्रकृति से जितना दूर होता गया उसने एक अलग सभ्यता का निर्माण किया।

वर्चस्ववादी सभ्यताएं प्रारंभ से ही अपनी विस्तारवादी नीतियों के चलते दुनिया भर में अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए प्रयास करती रही हैं। आज भी इस विस्तारवादी नीति के तहत यह दुनिया को साम्राज्यवाद की कभी न शांत होने वाली भूख की आग में धकेल रही हैं। और यह सब वे विकास के नाम पर कर रही हैं। वर्चस्वशाली समाज जिसे बदलाव या विकास कहते हैं, वह दरअसल कई आधारों पर विस्तार की प्रक्रिया ही रही है। यहाँ साम्राज्य विस्तार का आशय ज्ञान, संस्कृति और जीवन के विभिन्न आयामों से है। ऐसे वर्चस्वशाली समाज पूरी दुनिया में एक तरह का परिवेश स्थापित करना चाहते हैं, वे विकास का एक ही मॉडल सब जगह लागू करना चाहते हैं। मिसाल के लिए शहरीकरण की परियोजनाएं, जिनके तहत सारे शहर एक जैसे दिखते हैं। इसके तहत, वे सभी भिन्न जीवन-रूपों को नष्ट कर उन्हें अपने साँचे में ढालना चाहते हैं। दुनिया भर में आदिवासी समाजों पर हो रहा हमला इस प्रक्रिया का नतीजा है।

आदिवासी समाज ने राजनीतिक और सांस्कृतिक तरीकों से इस हमले का जवाब दिया है और साहित्य भी उनकी लड़ाई का एक हिस्सा है। आदिवासी अस्मिता पर चूँकि सबसे बड़ा हमला साम्राज्यवाद की ओर से हो रहा है, इसलिए उनके साहित्य में भी इस साम्राज्यवाद के विरोध का स्वर मुख्य रूप से सामने आता है।

आदिवासी समाज का साहित्य ज्यादातर मौखिक रहा है। वहां लिखित कविता के बजाए गीत ज्यादा मिलते हैं। दरअसल वर्चस्वशाली समाज में जिसे शिक्षा कहते हैं, जिसमें रोजमर्रा के जीवन से मिले ज्ञान को नजरअंदाज करते हुए दर्जा दर दर्जा पढ़ाई करनी होती है, वैसा आदिवासी समाज में नहीं रहा। आदिवासी समाज में रोज ब रोज ज्ञान या शिक्षा जीवन से, प्रकृति और अपने परिवेश के साथ जुड़ाव के द्वारा हासिल की जाती है। इसलिए, आदिवासी समाज में साहित्यिक अभिव्यक्ति भी भिन्न रूप से होती रही है। लेकिन तथाकथित सभ्य समाज से संपर्क बढ़ने के साथ आदिवासियों ने उसकी शिक्षा पद्धति और कला रूपों को भी अपनाना शुरू कर दिया। इस तरह उनके बीच भी लिखित साहित्य की शुरुआत हुई।

अन्य अस्मिताओं के चिंतन की तरह, आदिवासी चिंतन में भी अपने अनुभवों और अपनी अभिव्यक्ति पर प्रबल दावेदारी की जा रही है। वाहरू सोनवणे सहानुभूति, स्वानुभूति और अभिव्यक्ति की नई संवेदनाओं के बारे में लिखते हैं:

‘और वे मंच पर खड़े होकर

हमारा दुःख हमसे कहते रहे

हमारा दुःख हमारा ही रहा

कभी उनका नहीं हो पाया'[23]

आदिवासी अस्मिता की कविता की अंतर्वस्तु अंतरंग आदिवासी सवालों से निर्मित होती है। इसमें मुख्य रूप से साम्राज्यवादी हस्तक्षेप, विस्थापन, उनके संघर्षों की दास्तान, अपने संघर्षों के नायकों की पहचान और तथाकथित सभ्य समाज द्वारा अपने जल, जंगल और जमीन के दोहन आते हैं। इस सब ने आदिवासी जीवन पर जिस तरह से चोट की है उसने आदिवासियों को झकझोर के रख दिया है। यही हिंदी की आदिवासी अस्मिता की कविता में भी अभिव्यक्त होता है। हम ऊपर जिस हमले की बात कर आए हैं, उसकी पृष्ठभूमि को देखते हुए, आदिवासी कविता में युद्ध और युद्ध के प्रतीकों की बहुतायत सहज और स्वाभाविक लगती है। मिसाल के लिए युवा कवि अनुज लुगुन की कविता है:

'घोड़े ने हमारी फसलों और गीतों को रौंद डाला

हमने राजा से हर्जाने के लिए निवेदन किया

लेकिन राजा ने

हमारे खिलाफ अपने सैनिक युद्ध करने के लिए छोड़ दिए हैं।'[24]

वीर भारत तलवार जिसे आदिवासियों के "अस्तित्व का संकट"[25] कहते हैं, उसे हरिराम मीणा की कविताओं में हम देख सकते हैं, जिनके यहां अपनी जड़ों और संस्कृति से उजड़ने का दर्द दिखाई देता है:

'ओ रे

मानवता के आदिम नुमाईंदों

तुम जंगली ढोर, गंवार हो

एक सलाह है तुम्हें सभ्य बनाने की

रोपना होगा, मुख्यधारा की उर्वरा भूमि पर।'[26]

आदिवासियों का यह विस्थापन उनके विकास के नाम पर हो रहा है। जैसा कि दीपक कुमार लिखते हैं, "वह पहले भी खदेड़े जाते थे और आज भी खदेड़े जाते हैं। केवल तरीका बदल गया है। पहले वह एक जंगल से दूसरे जंगल जाते थे, लेकिन आज या तो जंगल कट गए हैं या उनके प्रवेश पर रोक लग गई है। वे जंगल की उपज के अधिकारों से वंचित कर दिए गए हैं। अब वे शहरों की तरफ भागे चले आ रहे हैं।"[27]विस्थापित आदिवासी अपने गुजर-बसर के लिए शहरों में आकर मजदूरी करते हैं। साथ ही आदिवासी लड़कियों को काम दिलाने के नाम पर उनका देह व्यापार किया जाता है। उन्हें सस्ते दामों में घरों में काम करने के लिए बेचा जाता है। आदिवासी इलाकों में आए इस भयंकर संकट के कारण आदिवासी जीवन तहस नहस हो गया है।

निर्मला पुतुल की कविताओं में हमें आदिवासी जीवन की व्यापक समस्याओं के साथ-साथ स्त्री अस्मिता की चिंता भी दिखाई देती है। आदिवासी स्त्री अपने जीवन में क्या-क्या झेलती है और इस

साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का आदिवासी स्त्रियों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह उनकी कविता में अभिव्यक्त होता है। अपनी कविता 'तुम कहाँ हो माया?' में इस संकट को दिखाती हैं:

'दिल्ली के किस कोने में हो तुम?
मयूर विहार, पंजाबी बाग, या शाहदरा में?
कनाट प्लेस की किसी दुकान में
सेल्सगर्ल हो या
किसी हर्बल कंपनी में पैकट?
कहाँ हो तुम माया? कहाँ हो?
कहीं हो भी सही सलामत या
दिल्ली निगल गयी तुम्हें?'[28]

आदिवासी कविता में अपने संकट की अभिव्यक्ति के साथ साथ, अपने संघर्ष, अपने नायकों और आंदोलनों तथा इतिहास के प्रति गर्व का भाव है। वे अपने नायकों से संघर्ष की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। भुजंग मेश्राम अपनी कविता 'ओ मेरे बिरसा' में कहते हैं:

'सब तेरी बाट जोहते
जिस दुश्कर राह पर तू चला
वह राजमार्ग बन कर बसा है'[29]।

भुजंग मेश्राम अपनी कविता के माध्यम से आदिवासियों के संघर्षशील इतिहास को याद करते हैं और ब्रिटिश शासन काल में किए गए जुझारू संघर्षों के विषय में लिखते हैं:

'दिशा देते हो
तब तुमने ही तो किया था संघर्ष
गोरों को खदेड़ने की खातिर
सिंहभूम, मंडला, वसई
चंद्रपुर को करने को आजाद
बचाने के लिए हरे भरे जंगल'[30]

बिरसा को ही याद करते हुए एक और आदिवासी कवि सुरेन्द्र कुमार नायक कहते हैं:

'भगवान बिरसा!
एक बार देख तो लो
अपना गांव उलीहातू'[31]

अपने नायकों के प्रति यह केवल श्रद्धा का भाव ही नहीं है बल्कि उससे भविष्य में किए जाने वाले संघर्षों के लिए प्रेरणा लेना भी है। साथ ही, अपने शोषण के इतिहास का खाका खींचते हुए मौजूदा शोषकों की वास्तविक पहचान भी करनी है। सुरेन्द्र कुमार नायक अपनी कविता में लिखते हैं:

'विकास का बहाना

हीराकुंड से लेकर

सिंगूर, नंदीग्राम, भिलाई तक

हमारी जमीन, हमारे जंगल

हड़पते

हमारे तथाकथित रक्षक

सत्ता व्यवस्था संस्थागत भक्षक'[32]

रणेन्द्र हालाँकि आदिवासी समुदाय से नहीं आते, लेकिन वे एक ऐसे कवि हैं जो लगातार आदिवासी समुदाय के संकट और संघर्षों को स्वर देते रहे हैं। उन्होंने आदिवासी समाज को केंद्र में रख कर उनके सवालों को उठाते हुए अनेक कविताएं लिखी हैं, जिनमें एक तरफ आदिवासी जीवन का उत्सव है तो दूसरी तरफ आदिवासी समाज के शोषण की गाथा और उसके खिलाफ संघर्ष भी। सलवा जुडूम पर उनकी कविता आदिवासी और गैर आदिवासी समाज में सलवा जुडूम के प्रभावों को इस तरह पेश करती है:

'निचोड़े जा रहे हैं

हरे सांवले जंगल

जमा किया जा रहा है

विशालकाय गड्ढे में

जीवन-रस

जिसमें

धोई जानी है

खाकी वर्दियां'[33]

आदिवासी समाज न चाहते हुए भी इस युद्ध की विभीषिका में घिरा हुआ है जोकि आदिवासी कविता में अभिव्यक्त होता है। अनुज लुगुन जैसे नए पीढ़ी के कवि इन सवालों को अपनी कविता में अभिव्यक्त कर आदिवासी कविता को नए तेवर प्रदान कर रहे हैं। उनमें अपनी संस्कृति और सभ्यता के लिए गहरी वैज्ञानिक चेतना है और भूमंडलीकरण के दौर में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप से उत्पन्न खतरों के प्रति सजगता भी है। अनुज मौजूदा समय में जल-जंगल-जमीन को हड़पने के लिए आदिवासी अवाम पर थोप दिए गए युद्धों के खिलाफ चल रही आदिवासी लड़ाइयों को अपनी कविता की चेतना और विषय वस्तु के केंद्र में रखते हैं। इसलिए, उनकी कविता आदिवासी संघर्षों की एक मुखर प्रतिनिधि बन गई है:

'कुछ तो है ज़रूर, साहब !

जो आदिम जनों की

आदिम वृत्ति को जगाता है

कुछ तो है

कुछ तो है ज़रूर, साहब !

आप ही के गिरेबान में

वरना कोई भी 'गढ़'

यूं ही 'लाल'

नहीं होता

और आप हैं कि

बड़ी बेशर्मी से कह देते हैं कि

बदअमनी के जिम्मेवार

रोबड़ा सोरेन को ज़िंदा या मुर्दा

गिरफ़्तार किया जाए।'[34]

यह लड़ाई एक तरफ सदियों से चली आ रही आदिवासियों के पुरखों की लड़ाई का विस्तार है, तो दूसरी तरफ भविष्य के एक सुन्दर, बिना गैर-बराबरी के नए समाज के निर्माण का सपना भी इसमें पैबस्त है। पुराने के नष्ट होने और नए के बनने के इस संघर्ष में शहादतें भी हैं और उम्मीद भी:

'हमारी अंतिम क्रिया पर रचे जाएंगे संघर्ष के गीत

गीतों में कहा जाएगा

क्यों धरती का रंग हमारे बदन-सा है

क्यों आकाश हमारी आंखों से छोटा है

क्यों हवा की गति हमारे कदमों से धीमी है

क्यों पानी से ज्यादा रास्ते हमने बनाए

क्यों आग की तपिश हमारी बातों से कम है

ओ मेरी युद्धरत दोस्त !

तुम कभी हारना मत

हम लड़ते हुए मारे जाएँगे

उन जंगली पगडंडियों में

उन चौराहों में

उन घाटों में

जहाँ जीवन सबसे अधिक संभव होगा।'[35]

आदिवासी कविता में प्रकृति हमेशा रहती है चाहे उनके संघर्ष हो या उनके उत्सव उन सब में प्रकृति रची बसी है। इसलिए इस प्रकृति के दोहन को वह अपनी आँखों से देख रहे हैं तो उन्हें महसूस हो रहा है कि प्रकृति और इस प्राकृतिक परिवेश की हर एक चीज विलाप कर रही है। ग्रेस कुजूर एक ऐसी ही आदिवासी कवयित्री हैं जिनकी कविताओं में प्रकृति की पीड़ा को अभिव्यक्त किया गया है:

'क्या तुमने कभी देखा है

पर्वत को रोते?

क्या कभी सुना है

उसके हृदय की आवाज़

क्या कभी देखा है

उसका टुकड़े-टुकड़े होकर

बिखर जाना?'[36]

आदिवासी कविता में इस तथाकथित सभ्य समाज की विसंगतियों पर प्रहार किया गया है। यह 'सभ्य' समाज जो कि आदिवासियों को तथाकथित मुख्यधारा से जोड़ना चाहता है उसके अन्दर स्वयं इतनी खामियां हैं। इस सभ्य समाज में मनुष्य को मनुष्य की तरह न देखकर विभिन्न जाति और धर्मों के माध्यम से देखा जाता है। यहाँ मनुष्य को मनुष्य नहीं समझा जाता है और आदिवासियों का वनवासी कहकर मजाक बनाया जाता है। इस विरोधाभास को महादेव टोप्पो की कविता 'त्रासदी' अभिव्यक्त करती है:

'इस देश में पैदा होने का
मतलब है-
आदमी का जातियों में बंट जाना
और गलती से तुम अगर हो गए पैदा
जंगल में
तो तुम कहलाओगे
आदिवासी-वनवासी-गिरिजन
वगैरह-वगैरह
आदमी तो कम से कम
कहलाओगे नहीं ही।'[37]

इस तरह हम देखते हैं कि आदिवासी अस्मिता की कविता में अपने इतिहास की पहचान, अपने नायकों का जुझारू संघर्ष, विस्थापन की समस्या, साम्राज्यवादी हस्तक्षेप, प्रकृति का दोहन, जैसे विषय कविता के केंद्रीय सरोकार के रूप में अभिव्यक्ति पाते हैं।

हम पाते हैं कि मौटे तौर पर अस्मिता आधारित कविता की अंतर्वस्तु वंचित समुदायों और आबादियों के संघर्षों, उनकी पीड़ा, उनके संताप, समाज में बराबरी के मूल्यों की स्थापना, सभी तरह की गैर-बराबरी की समाप्ति, मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण के विरोध, पितृसत्ता, ब्राह्मणवाद, और साम्राज्यवाद से मुक्ति की आकांक्षा से निर्मित होती है। इस अस्मिता आधारित कविता की अंतर्वस्तु के रूप में एक बेहतर समाज के स्वप्न, उम्मीदें और आकांक्षाएं भी जगह पाते हैं।

संदर्भ सूची

[1] कात्यायनी, 'गार्गी', *सात भाइयों के बीच चम्पा*, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, 2008, पृ.34.

[2] अनीता वर्मा, 'नियम', *एक जन्म में सब*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृ.23.

[3] कात्यायनी, *इस पौरुषपूर्ण समय में*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1999, पृ.112.

[4] अनामिका, *दूब-धान*, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2007, पृ.173.

[5] रजनी तिलक, 'स्त्री मुक्ति की मशाल हो', *पदचाप*, निधि बुक्स प्रकाशन, पटना, 2008, पृ.2.

[6] सविता सिंह, 'नमन करूँ छोटी बेटियों को', *अपने जैसा जीवन*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013, पृ.45.

[7] रमणिका गुप्ता, अनीता वर्मा (सं.), *हाशिए उलांघती औरत : कहानी*, नेहा प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ.10.

[8] गगन गिल, *एक दिन लौटेगी लड़की*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2001, पृ.25.

[9] अनिता वर्मा, 'भय' *रोशनी के रास्ते पर*, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2008 पृ.19.

[10] वीर भारत तलवार, *चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य*, संपा. डॉ॰ श्यौराज सिंह 'बेचैन' और डॉ. देवेंद्र चौबे, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, 2010, पृ.87.

[11] सुशीला टाकभौरे, 'पीड़ा की फसलें', *कविताकोश*, ऑनलाइन, http://kavitakosh.org/kk/%E0%A4%AA%E0%A5%80%E0%A4%A1%E0%A4%BC%E0%A4%BE_%E0%A4%95%E0%A5%80_%E0%A4%AB%E0%A4%B8%E0%A4%B2%E0%A5%87%E0%A4%82_/_%E0%A4%B8%E0%A5%81%E0%A4%B6%E0%A5%80%E0%A4%B2%E0%A4%BE_%E0%A4%9F%E0%A4%BE%E0%A4%95%E0%A4%AD%E0%A5%8C%E0%A4%B0%E0%A5%87 पर उपलब्ध। 22 अगस्त 2015 को देखा गया।

[12] सविता सिंह, *स्वप्न समय*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, फ्लैप.

[13] शरण कुमार लिंबाले, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, अनु. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन दिल्ली, 2010, पृ.16.

[14] मोहनदास नैमिशराय, *आग और आंदोलन*, श्री नटराज प्रकाशन नई दिल्ली, 2013, पृ.59.

[15] जय प्रकाश कर्दम, *चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य*, संपा. डॉ॰ श्यौराज सिंह 'बेचैन' और डॉ. देवेंद्र चौबे, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, 2010, पृ.36.

[16] कँवल भारती, 'मातृभूमि', *तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?*, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, 1996 पृ.32.

[17] ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'वह मैं हूँ!' *बस्स! बहुत हो चुका*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997, पृ.16-17.

[18] मोहनदास नैमिशराय, 'आंदोलन', *आग और आंदोलन*, वही, पृ.51.

[19] असंगघोष, 'तेरा प्रतिशोध', *हम गवाही देंगे*, शिल्पायन, दिल्ली, 2010, पृ.9.

[20] कँवल भारती, 'चौदह अप्रैल', *तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?*, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, 1996, पृ.20.

[21] कँवल भारती, 'चिड़िया जो मारी गई?', *तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?*, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, 1996, पृ.29.

[22] मोहनदास नैमिशराय, 'गाँव में शांति है', *आग और आंदोलन*, वही, पृ.86.

[23] रमणिका गुप्ता (सं.), *आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी*, वाणी प्रकाशन, 2008, पृ.101.

[24] अनुज लुगुन, 'दयामनी,जंगल, जेल और राजा का डर', *यथास्थिति से टकराते हुए*, (सं.) अनीता भारती, बजरंग बिहारी तिवारी, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ.30.

[25] वीर भारत तलवार, *झारखंड के आदिवासियों के बीच: एक एक्टिविस्ट के नोट्स*, भारतीय ज्ञानपीठ, 2010, पृ.46.

[26] हरिराम मीणा, 'अंडमान आदिवासियों को सभ्य बनाने की सलाह', *सुबह के इंतजार में*, शिल्पायन, दिल्ली, 2006, पृ.41-42.

[27] दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे, *हाशिए का वृत्तांत*, आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा, 2011, पृ.359.

[28] निर्मला पुतुल, 'तुम कहाँ हो माया?', *अपने घर की तलाश में*, रमणिका फाउंडेशन, 2004, पृ.31.

[29] भुजंग मेश्राम, 'ओ मेरे बिरसा', *समकालीन आदिवासी कविता*, (सं.) हरिराम मीणा, अलख प्रकाशन, 2013, पृ.32.

[30] भुजंग मेश्राम, वही, पृ.34.

[31] सुरेंद्र कुमार नायक, 'उलीहातू', *समकालीन आदिवासी कविता*, वही, पृ.45.

[32] सुरेंद्र कुमार नायक, वही, पृ.45.

[33] रणेन्द्र, 'सलवा जुडूम: दो', *थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूं*, शिल्पायन, दिल्ली, 2010, पृ.86-87.

[34] अनुज लुगुन, 'लालगढ़', *कविता कोश*, ऑनलाइन http://kavitakosh.org/kk/%E0%A4%B2%E0%A4%BE%E0%A4%B2%E0%A4%97%E0%A4%A2%E0%A4%BC_/_%E0%A4%85%E0%A4%A8%E0%A5%81%E0%A4%9C_%E0%A4%B2%E0%A5%81%E0%A4%97%E0%A5%81%E0%A4%A8 पर उपलब्ध। 22 अगस्त 2015 को देखा गया।

[35] अनुज लुगुन, 'हमारी अर्थी शाही हो नहीं सकती', *हिंदी समय*, ऑनलाइन http://www.hindisamay.com/contentDetail.aspx?id=5538&pageno=1 पर उपलब्ध। 22 अगस्त 2015 को देखा गया।

[36] ग्रेस कुजूर, 'हे समय के पहरेदारो!' *समकालीन आदिवासी कविता*, सं. हरिराम मीणा, पृ.23.

[37] रमणिका गुप्ता (सं.), *आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी*, वाणी प्रकाशन, 2008, पृ.49.

अध्याय पांच

अस्मिता के संदर्भ में काव्यवस्तु और रूप का अंतरसंबंध

पिछले अध्याय में हमने अस्मिता और काव्यवस्तु के अंतरसंबंध को समझने का प्रयास किया था। हमने यह समझने का प्रयास किया कि अस्मिता और काव्यवस्तु में क्या सम्बन्ध है। हमने देखा था कि किस तरह अस्मिता कविता की काव्यवस्तु को प्रभावित करती है। अस्मितामूलक चिंतन से लिखी जाने वाली कविताओं में अस्मिता निर्माण की पूरी प्रक्रिया उभर कर आती है। हाशिए पर मौजूद अस्मिताओं का संघर्ष उन कविताओं में जगह पाता है। उन कविताओं में अस्मिताओं द्वारा झेली जाने वाली पीड़ा और शोषण काव्यवस्तु के रूप में जगह पाते हैं। इस अध्याय में हम अस्मिता के सन्दर्भ में काव्यवस्तु और रूप के अंतर्संबंध को समझने का प्रयास करेंगे।

हमने पिछले अध्याय में यह देखा कि किस तरह अस्मितामूलक चिंतन कविता के वस्तुपक्ष को प्रभावित करते हैं। परन्तु क्या यह अस्मिता कविता के रूप को भी प्रभावित करती है? अस्मितामूलक चिंतन के संदर्भ में रूप और वस्तु का आपस में क्या सम्बन्ध होता है? इस अध्याय में हम इन सवालों पर गौर करेंगे। सबसे पहले हमें वस्तु और रूप को समझना होगा।

हम देखते हैं कि समाज में हम बहुत सारी संरचनाओं से घिरे हुए हैं। ये संरचनाएं कई तत्वों से मिलकर बनी होती हैं, परन्तु इनमें मूल रूप से दो तत्व होते हैं। एक भीतरी तत्व और दूसरा बाहरी तत्व। किसी भी संरचना को जब हम देखते हैं तो सर्वप्रथम हम उसके बाहरी तत्व को देखते हैं। यह बाहरी तत्व किसी भी संरचना का रूप होता है। रूप ही वह तत्व है जिससे सबसे पहले किसी संरचना की पहचान होती है। इस रूप के माध्यम से ही हम संरचना के भीतरी तत्व तक पहुँचते हैं। यह भीतरी तत्व उस संरचना की अंतर्वस्तु होती है। अंतर्वस्तु किसी भी संरचना का वह मूलभूत तत्व या संघटक होती है जो रूप के द्वारा अभिव्यक्त होती है। अंतर्वस्तु के आधार पर ही रूप तत्व का विकास होता है। नंदकिशोर नवल वस्तु और रूप को समझाते हुए कहते हैं कि 'साहित्यिक कृति में अभिव्यक्त भाव और विचार उसकी वस्तु होते हैं और उन्हें प्रकट करने का ढंग उनके रूप का निर्माण करता है। रूप एक व्यापक शब्द है जिसे हम आकृति भी कह सकते हैं। भाषा, शैली, शिल्प, प्रविधि आदि इस रूप के ही तत्व हैं। इन्हीं से साहित्यिक कृति के रूप की रचना होती है।'[1]

किसी रचना में अभिव्यक्त होने वाले भाव और विचार किसी रचना का भीतरी पक्ष हैं, जो रचना की अंतर्वस्तु है। ये भाव और विचार जिस 'आकृति' में भाषा, शैली, व शिल्प के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं वह रचना का बाहरी पक्ष यानी रूप होता है। साहित्य में कहानी, नाटक, उपन्यास, कविता आदि साहित्यिक रूप हैं। एक वस्तु की अभिव्यक्ति कई रूपों में या एक ही रूप में कई तरह से हो सकती है। जैसे

प्रकृति, प्रेम, संघर्ष जैसी वस्तु को आधार बनाकर लगभग साहित्य के सभी रूपों में अभिव्यक्ति हुई है साथ ही एक ही साहित्यिक रूप में भी कई तरह से इन्हें अभिव्यक्त किया गया है। जैसे कोई भी संरचना वस्तु और रूप के बिना नहीं हो सकती वैसे ही कोई भी साहित्यिक कृति वस्तु और रूप के बिना नहीं हो सकती।

साहित्य और कला के क्षेत्र में वस्तु और रूप की एकता के सन्दर्भ में सभी विचारक सहमत हैं। परन्तु वस्तु और रूप से सम्बन्धित यह प्रश्न हमेशा से खड़ा होता रहा है कि किसी कृति में निर्णायक भूमिका किसकी होती है। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य की आत्मा को लेकर जो विचार रखे गए हैं, असल में वे भी काव्य के वस्तु और रूप सम्बन्धी विचार ही हैं। अगर हम उस समय के रूपवादी नजरिए के विचार देखें तो रीति सिद्धान्त, वक्रोक्ति सिद्धान्त और अलंकार सिद्धान्त, तथा वस्तुवादी विचार देखें तो रस, ध्वनि और औचित्य सिद्धान्त आदि हैं जिनके माध्यम से काव्य के मर्म को समझने का प्रयास किया गया है। रीति, वक्रोक्ति, और अलंकार सिद्धान्त काव्य के बाहरी रूप पर जोर देते हैं। यह सिद्धान्त काव्य की बनावट, उसके रूप को महत्त्व प्रदान करते हैं। इसके विपरीत रस, ध्वनि और औचित्य काव्य के भीतरी पक्ष पर यानी उसके वस्तु पक्ष पर जोर देते हैं।

काव्य के वस्तु और रूप सम्बन्धी चिंतन भारतीय और पाश्चात्य साहित्य दोनों में दिखाई देता है। पाश्चात्य साहित्य में प्लेटो और अरस्तु और लांजाइनस ने साहित्य सम्बन्धी जो विचार रखे हैं, उनमें भी

वस्तु और रूप पर बहस के सूत्र देख सकते हैं। परन्तु वस्तु और रूप सम्बन्धी यह बहस मुख्य रूप से 1917 में रूस के विद्वान विक्टर श्क्लोव्स्की के रूपवादी आन्दोलन के बाद सामने आई। उन्होंने साहित्य में शिल्प पक्ष को महत्वपूर्ण माना और 'कला, कला के लिए' घोषित किया। यह रूसी रूपवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने काव्य में रूप को महत्त्व दिया। इसके बरअक्स वस्तुवादी विचारक खड़े हुए जिनमें अधिकतर मार्क्सवादी विचारक थे, जिन्होंने काव्य में वस्तु को महत्वपूर्ण माना। अंतर्वस्तु और रूप के संबंधों को लेकर अपनाए गए अलग-अलग दृष्टिकोणों के चलते वस्तुवादी और रूपवादी धारणाएँ विकसित हुई।

वस्तुवादी विचारक, रचना में अंतर्वस्तु को केन्द्रीय तत्व के रूप में देखते हैं। उनका मानना है कि रचना में वास्तविक मौलिकता वस्तु में होती है, वस्तु अपने अनुरूप रूप का निर्धारण कर लेती है। इसके विपरीत रूपवादियों के अनुसार, काव्य में रूप महत्वपूर्ण होता है। वह रूप को वस्तु से अलग और स्वयं में विकसित मानते हैं। वह इस बात का खंडन करते हैं कि वस्तु अपने अनुसार रूप का विकास करती है। वह रूप को स्वायत्त मानते हैं। उनका मानना है कि रूप वस्तु को अपने अनुसार परिवर्तित कर लेता है। इस बहस के संदर्भ में हिंदी आलोचक अजय तिवारी लिखते हैं, 'वस्तुवादी दृष्टि से विचार करने वाले चिन्तक रूप-तत्व की अपेक्षा वस्तु-तत्व को अधिक गतिशील और महत्वपूर्ण पाते हैं। वस्तु तत्व ही प्रतिमूर्तित घटना की प्रकृति को उद्घाटित करता है और उसके सारतत्व का संयोजन अथवा नियमन करता है। इसके

विपरीत, आनंदवादी दृष्टि से विचार करने वाले चिंतकों के अनुसार सभी कलाओं की अन्तर्वस्तु में बुनियादी अंतर नहीं होता; अंतर होता है केवल उनके रूप में। अतः कला का लक्ष्य रूप-रचना के अलावा कुछ नहीं हो सकता।'[2]

दरअसल रूप और वस्तु का अंतर्संबंध द्वंद्वात्मक होता है। ये दोनों एक दूसरे से अविछिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। परन्तु वस्तु अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह निरंतर गतिशील है और अपने अनुसार रूप का विकास करती है। जबकि रूप अपेक्षाकृत अधिक स्थिर है उसमें वस्तु की अपेक्षा स्थायित्व अधिक होता है, वह जल्दी नहीं बदलता। ठीक इसी वजह से दोनों में एक विरोधाभास भी है, और हमेशा द्वंद्व की स्थिति बनी रहती है। जब यह द्वंद्व संघर्ष में बदल जाता है तो नए रूप का जन्म होता है। जब नयी वस्तु के लिए रूप पुराना पड़ने लगता है तो वस्तु अपने अनुसार नए रूप का विकास कर लेती है। इस तरह वस्तु की भूमिका निर्णायक होती है।

परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि रूप की कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं है और उसकी उपेक्षा की जा सकती है। दरअसल रूप की साहित्य रचना में सक्रिय भूमिका होती है। कोई भी साहित्यकार अपनी वस्तु को साहित्य के किसी न किसी रूप में ही अभिव्यक्त करता है। अगर वह अपनी साहित्यिक वस्तु के लिए साहित्य के सही रूप का निर्धारण नहीं करेगा तो उसकी रचना प्रभावी नहीं होगी। अगर साहित्य में वस्तु के अनुरूप रूप का चयन होगा तो रूप वस्तु के विकास में सहायक होगा

जिससे रचना अधिक प्रभावशाली होगी। जिस तरह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध होता है उसी तरह रूप और वस्तु का भी सम्बन्ध होता है। शब्द अर्थ का बाहरी रूप है और अर्थ शब्द की भीतरी वस्तु। दोनों अविभाज्य हैं। आलोचक मैनेजर पाण्डेय के अनुसार

> शब्द और अर्थ की संपृक्तता की तरह ही रचना में रूप और वस्तु की एकता व्यक्त होती है। वास्तव में अर्थ ही वस्तु है और रूप उसका शब्द।...वस्तु और रूप दोनों ही सामाजिक यथार्थ और उसके प्रति रचनाकार के दृष्टिकोण से प्रभावित निर्मित होते हैं, लेकिन केन्द्रीय वस्तु अंतर्वस्तु ही है और अंतर्वस्तु की नवीनता से ही रूप की नवीनता विकसित होती है। नई वस्तु नए रूप में ही व्यक्त होती है। साहित्य में वस्तु और रूप का द्वंद्व कभी-कभी नए अनुभव और पुराने कलात्मक संस्कार के द्वंद्व के रूप में भी प्रकट होता है। नया अनुभव नई वस्तु रचता है और उसके अनुरूप नया रूप भी विकसित करता है।[3]

इस सन्दर्भ में लुकाच का यह कथन महत्वपूर्ण है कि 'कला में विचारधारा का सही वाहक रूप होता है, न कि अमूर्त अंतर्वस्तु। साहित्य पर इतिहास की छाप साहित्यिक रूप में ही पड़ती है, न कि किसी अन्य उच्च कोटि के सामाजिक दस्तावेज़ के रूप में।'[4] दरअसल रूप के माध्यम से ही कृति में अभिव्यक्त विचारधारा की अभिव्यक्ति होती है। वह रूप ही है जिस पर इतिहास की छाप दिखाई देती है। बहस की इस रूपरेखा के आलोक में, हम अस्मितामूलक चिंतन के सन्दर्भ में काव्यवस्तु और रूप के अंतरसंबंध को समझने का प्रयास करेंगे।

जैसा कि पिछले अध्यायों में हमने देखा है, हिंदी साहित्य में अस्मितामूलक चिंतन 1980 के दशक के बाद उभरे और 90 के दशक में यह अपने उफान पर आए। यह अस्मितामूलक चिंतन काव्य में एक नए तेवर लेकर आए। ये हिंदी कविता की अंतर्वस्तु में ही नहीं बल्कि उसके परम्परागत रूप में भी परिवर्तन लेकर आए।

कोई भी रचनाकार अपने परिवेश से जुड़ा होता है और यह परिवेश ही है जो रचनाकार की चेतना की निर्मिति करता है और इसी चेतना की अभिव्यक्ति उसके काव्य में होती है। वह अपनी काव्य की वस्तु भी अपने परिवेश से ग्रहण करता है। इसलिए उसकी रचना में उसका परिवेश और उससे निर्मित उसकी चेतना भी झलकती है। नंदकिशोर नवल कहते हैं, 'वस्तु और चेतना में घनिष्ट सम्बन्ध है, ऐसा ही सम्बन्ध लेखक के परिवेश और उसकी रचना में है। लेखक अनिवार्य रूप से अपने परिवेश से प्रभावित होता है। वह अपनी रचना के लिए विषय-वस्तु और भाषा ही नहीं, रूप भी अपने परिवेश से ही प्राप्त करता है।'[5] अस्मिता आधारित कविता में भी इस परिवेश और उससे निर्मित चेतना ही जगह पाती है।

कविता साहित्य की ऐसी विधा है, जिसमें कवि भाषा, छंद, अलंकार, बिम्ब, लय, आदि के माध्यम से अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त करता है। इसकी रचना के संदर्भ में आचार्यों ने कुछ मानदंड तय किए हैं, जिनमें रस, छंद, अलंकार, लय, बिम्ब आदि का पालन करते हुए ही कविता लिखी जा सकती है। साहित्य और ज्ञान की विधाओं और रूपों पर सदियों से वर्चस्वशाली सवर्ण और उच्च

समझी जाने वाली जातियों और पुरुषों का कब्ज़ा रहा है। इस वर्चस्वशाली तबके ने कविता को अभिजात्य संस्कारों से लैस किया और इसे इतना गूढ़ बना दिया गया जिससे न केवल कविता की रचना करने के लिए एक विशेष कौशल की आवश्यकता होती है, बल्कि कविता को समझने के लिए पाठकों में भी एक खास योग्यता का होना आवश्यक माना गया। यदि पाठक एक स्तर तक कविता को समझने के लिए योग्य नहीं होगा तो उसे कविता का आनंद प्राप्त करने में कठिनाई होगी। यह योग्यता उन नियमों को समझने के लिए भी चाहिए, जिनसे कविता निर्मित होती है। इन नियमों के पालन में थोड़ी भी कमी होने पर रचना काव्य की कसौटी पर खरी नहीं उतरती।

कविता में प्रेम, विरह, श्रृंगार, संघर्ष आदि विषयों को इतने गूढ़ तरीके से अभिव्यक्त किया जाता रहा है कि आम पाठकों से इसकी एक दूरी हमेशा से बनी रही है। यह दूरी काव्य को ग्रहण करने और उसकी रचना, दोनों ही अर्थों में रही है। परम्परागत रूप से कविता को केवल आनंद प्राप्त करने वाली विधा के तौर पर देखा गया और उसे मनोरंजन तक ही सीमित कर दिया गया। कविता को उसके सामाजिक दायित्व से दूर कर दिया गया। हालाँकि कविता के सामने मौजूद इन पाबंदियों को समय-समय पर चुनौती भी दी जाती रही है, लेकिन सबसे बड़ी चुनौती आधुनिककाल में आई, जिसके तहत कविता की वस्तु के साथ कविता के शिल्प को भी बदलने का प्रयास किया गया।

अधिकतर आदिकालीन कवियों की भाषा और शिल्प में हमें उपरोक्त गूढ़ता दिखाई देती है। वहां कविता कहना एक विशेष कार्य की तरह था, जिसके लिए कविता की बारीकियों की समझ आवश्यक थी। भक्तिकाल में कविता की अंतर्वस्तु में गुणात्मक बदलाव आया है परन्तु शिल्प के बंधनों से वह यहाँ भी मुक्त नहीं थी। इस काल में वंचित जातियों-समुदायों के लोगों ने भी प्रमुखता से कविताएं लिखीं, जो एक बड़ी परिघटना थी, और सामाजिक बंधनों पर काफी हद तक चोट की, जिसके परिणामस्वरूप कविता के सृजन में बना हुआ वर्चस्व टूटा।

इसके बाद आए, रीतिकाल में कविता के रूप यानी शिल्प पर ही अधिक बल दिया गया। पूरा रीतिकाल कविता के लक्षण ग्रंथों से भरा पड़ा है। इस काल में संस्कृत काव्यशास्त्र में कविता लिखने के जो मानदंड तय किए गए थे उन्हें फिर से स्थापित किया और कविता की दुरूहता को और बढ़ाकर कविता को आम जन से दूर किया गया। इस समय कविता लिखना एक ऐसा काम था जिसे एक विशेष वर्ग के, विशेष प्रतिभा से धनी लोग ही कर सकते थे।

यही गूढ़ता आधुनिक काल में भारतेंदु युग और द्विवेदी युग में भी बनी रही। छायावाद में कविता के शिल्प के बंधनों को तोड़ने के प्रयास दिखाई देते हैं। यहाँ निराला की कविताओं में आकर कविता को छंद के बंधनों से मुक्ति मिलती है। परन्तु वह गूढ़ता और शिल्प की वह बारीकी इस काल में भी व्यापक रूप से बनी रही।

इसके बाद आने वाले प्रगतिवाद में कविता की वस्तु यथार्थवाद से निर्मित होती है। इस काल में कविता आमजन के सवालों को कविता के केंद्र में लाती है। इस काल की कविता अपने रहस्यमय आवरण से बाहर आती है और हाशिए के समाज के दुःख-दर्द को साधारण भाषा में अभिव्यक्त करती है। परन्तु यहाँ भी कविता की रचना अधिकतर समाज के उस तबके के लोग कर रहे थे जो उच्च सामाजिक वर्ग के थे। अभी भी हाशिए के समाज के रचनाकार सामने नहीं आ पाए थे।

प्रयोगवाद में तो कविता के शिल्प को ही नहीं बल्कि उसकी वस्तु को भी दुरूह बनाया गया। उसमें ऐसे-ऐसे विषय उठाए जाने लगे जो आम जन से कोसों दूर थे। इस काल में कविता के शिल्प में भी जटिलता आयी। नयी कविता के आन्दोलन ने भी कविता और आम जन की इस दूरी को बनाये रखा और उसके शिल्प और वस्तु की गूढ़ता इस समय भी बनी रही।

आधुनिक काल में समकालीन कविता में आकर हमें कविता के रूप और वस्तु के स्तर पर सबसे मूलगामी बदलाव दिखाई देते हैं। अब कविता में जनमानस के यथार्थ की अभिव्यक्ति होने लगती है और कविता अपने को जनमानस से जोड़ने का प्रयास करने लगती है। अस्मितामूलक कविता के रूप में इसका सबसे मुखर प्रभाव देखने को मिलता है।

अस्मिता आधारित कविता में हाशिए के समाज के जीवन की सच्चाइयाँ अभिव्यक्त होती हैं। इस कविता में उनके जीवन के दुःख-दर्द और पीड़ा को अभिव्यक्ति मिलती है, जो कविता की अंतर्वस्तु और

रूप में भी बदलाव लाती है। अस्मिता आधारित कविता में शिल्प के स्तर पर एक अनगढ़ता देखने को मिलती है, जिसका कारण अस्मिता की कविताओं में साधारण जनमानस की पीड़ा का उसी की भाषा में उसी की कलम से अभिव्यक्ति होना है। इस अनगढ़ता का भी अपना एक सौंदर्य है।

दरअसल अस्मितामूलक कविता में शिल्प पर उतना जोर नहीं है जितना कविता की अंतर्वस्तु पर। इस कविता को लिखने वाले हाशिए के वही लोग रहे हैं जो ज्ञान की परम्परा और संस्कृति में वंचित रखे गए थे, इसलिए उनके सरोकार कविता के शिल्प को बरतने से उतने जुड़े हुए भी नहीं हैं और न ही उनमें इसका अभ्यास दिखता है। परन्तु इन्होंने एक बड़ा काम यह किया कि यह कविता को हर स्तर पर आम जनमानस तक लेकर आए और इन्होंने कविता पर सदियों से चले आ रहे वर्चस्व को तोड़ा और अपनी दावेदारी पेश की। आज कविता लेखन के क्षेत्र में हाशिए के समाज की भागीदारी लगातार बढ़ रही है।

इसका प्रत्यक्ष नतीजा यह है कि ये कविता के अपने नए सौन्दर्यशास्त्र को गढ़ रहे हैं। इसने कविता के परम्परागत सौन्दर्यशास्त्रों और मानकों को भी निरर्थक बना दिया है, जिनके आधार पर इस कविता का मूल्यांकन नहीं हो सकता। इन्होंने कविता के लिए अपनी नयी भाषा का निर्माण किया, यह कविता में अपने अलग मिथक और प्रतीक लेकर आए, इन्होंने कविता को नए बिम्ब प्रदान किए जो रचनाकारों के जीवन जगत से जुड़े हुए थे।

स्त्री, दलित और आदिवासी तीनों अस्मिताओं में हमें कविता के शिल्प को बरतने का तरीका अलग-अलग दिखाई देता है। जहाँ स्त्री अस्मिता की अभिव्यक्ति कविता में अधिक दिखाई देती है क्योंकि कविता का शिल्प ऐसा है जिसमें इशारों और संकेतों में अपनी बात कही जा सकती है। स्त्रियों के लिए हमारे समाज में सार्वजनिक स्पेस बहुत सीमित रहा है, खुल कर अपनी बात करने की आजादी उनके पास प्राय: नहीं होती और कविता उन्हें ऐसी संभावना मुहैया कराती है, जिसमें वे संकेतों में खुद को अभिव्यक्त कर सकें। इसलिए स्त्री अस्मिता की कविता में कविता के परम्परागत शिल्प को ही बरकरार रखते हुए उसमें स्त्री भावनाओं और संवेदनाओं का स्पर्श मिलने से शिल्प के नएपन का अहसास होता है। वह भाषा और प्रतीक, बिम्ब, और मिथक नए लेकर कविता में आती हैं।

इसके विपरीत दलित अस्मिता के लेखन में काव्य और काव्येतर विधाएं देखने को मिलती हैं। क्योंकि दलित अस्मिता का लेखन अधिकतर पुरुषों ने ही किया है। पुरुष होने के नाते उन्हें समाज में अपेक्षाकृत एक स्पेस मिला हुआ है कि वह अपनी बात खुलकर कह सकते हैं। इसी स्पेस के कारण दलित अस्मिता की अभिव्यक्ति अधिकतर आत्मकथा विधा में हुई है। परन्तु जब दलित अस्मिता की अभिव्यक्ति कविता में होती है तो यहाँ यह कविता के परम्परागत शिल्प का अनुसरण न करके अपनी बात खुले रूप में साफगोई से कहते हैं वहीं यदि दलित स्त्री अपनी वेदना को कविता में अभिव्यक्त करती

है तो उसका कविता कहने का ढंग अलग हो जाता है। क्योंकि उसके पास दलित और स्त्री होने की पाबंदियों की दोहरी विरासत है, जिससे मुक्त होने की वह कोशिश करती है।

आदिवासी इन कला रूपों के अभी-अभी संपर्क में आ रहे हैं। इसलिए वे जब कविता लेखन करते हैं तो उनकी कविताओं का शिल्प-रूप काफी हद तक गीतों के करीब होता है। उनमें लोकगीतों की सी बनावट और बुनावट दिखाई देती है। आदिवासी समाज इस तथाकथित मुख्यधारा के ज्ञान की धारा से देर से जुड़े हैं इसलिए उनकी कविताओं में सबसे अधिक अनगढ़ता देखने को मिलती है पर यही अनगढ़ता उन्हें दूसरों से अलग करती है। आदिवासी अस्मिता कविता कहने के एक नए ढंग को लेकर आती है और इस नए ढंग में उनके अपने लोकसाहित्य की समृद्ध परम्परा निहित है।

ये तीनों अस्मिताएं कविता में अपनी अलग भाषा, नए बिम्ब और प्रतीक लेकर आई हैं। वे अपने मिथकों का भी निर्माण करती हैं और परम्परागत मिथकों और बिम्ब तथा प्रतीकों को नकारती हैं। आगे हम काव्यवस्तु के आधार पर इन्हीं शिल्पगत मानदंडों का मूल्यांकन करेंगे।

अस्मिता : काव्यवस्तु और भाषा

अस्मिता के सन्दर्भ में काव्यवस्तु और भाषा के सम्बन्ध को समझने से पहले हमें भाषा को जानना होगा। क्योंकि, जैसे कि अनामिका लिखती हैं, 'भाषा एक लीलाभूमि है तो एक युद्धभूमि भी! अस्मिता की लड़ाई हो या कोई मनोसामाजिक संघर्ष उसकी सबसे महीन और सार्थक अनुगूंजें भाषा में ही दर्ज होती हैं।'[6] मनुष्य ने अपने विकासक्रम के दौरान एक प्रक्रिया में भाषा को अर्जित किया है। यह भाषा ही है जो मनुष्य को पशुओं से अलग करती है। भाषा मनुष्य की पहचान है। मनुष्य भाषा के माध्यम से अपने भावों और विचारों का न केवल आदान-प्रदान करता है बल्कि इसी भाषा के माध्यम से मानवजाति अपने ज्ञान का संग्रहण करती है और इसी भाषा के माध्यम से अर्जित ज्ञान को अगली पीढ़ी तक हस्तांतरित करती है। भाषा ने मानवजाति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मानवजाति ने सामूहिक रूप से साथ रहते हुए अपने समाजीकरण की प्रक्रिया में भाषा का विकास किया है। भाषा में मनुष्य की सामाजिकता की छाप दिखाई देती है। कोई व्यक्ति शब्दों और वाक्यों का चुनाव किस प्रकार करता है यह उसके सामाजिक व्यवहार पर निर्भर करता है। साहित्य के सन्दर्भ में भी यही बात सच है कोई रचनाकार अपनी रचना में जिस तरह की भाषा का प्रयोग करता है वह उसकी सामाजिक चेतना पर निर्भर करता है। और यह सामाजिक चेतना भाषा के द्वारा ही निर्मित होती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि, बकौल क्रिस्टोफर कॉडवेल, 'चेतना का निर्माण करने में सबसे बड़ा उपकरण भाषा है। भाषा ही हमें सूर्य, तारों,

वर्षा और समुद्र को अर्थात उन वस्तुओं को सचेत रूप में देखने में समर्थ बनाती है जो जानवरों में मात्र अनुक्रियाएं उत्पन्न करते हैं। यही वह चीज है जो हमें सत्य और सौंदर्य का मूल्यांकन करने में समर्थ बनाती है।'[7] जीवन जगत में हमें जो भी अनुभव प्राप्त होते हैं वह हम भाषा के माध्यम से अर्जित करते हैं। और इन अनुभवों को जब हम भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं तो हम भाषा को भी समृद्ध करते हैं। इस तरह भाषा की समृद्धि और अनुभव की समृद्धि में द्वंद्वात्मक सम्बन्ध होता है। जब हमारे अनुभव समृद्ध होते हैं तो भाषा भी समृद्ध होती है और जब भाषा समृद्ध होती है तो अनुभव भी समृद्ध हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति का विश्व दृष्टिकोण उसके अनुभव और उसके आधार पर विकसित विचार भाषा के द्वारा ही निर्मित होते हैं जो उसके व्यवहार, उसकी भाषा के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। बकौल कवि अरुण कमल, 'बहुत बार हम शब्दों के प्रचलन को जांच करके पता लगा सकते हैं कि कौन से कवि का समाज से संपर्क कैसा है, कौन से विषयों को वह चुनता है और फिर उसकी पूरी दृष्टि कैसी है? यानी विषयवस्तु से शुरू करके एक शब्द का बल्कि हम तो कहेंगे कि एक मात्रा तक का जो चुनाव होता है, वहां तक यह बहुत ही महत्वपूर्ण प्रक्रिया चलती रहती है। और इस सबका संबंध बाह्य से होता है।'[8]

इसलिए कवि द्वारा कविता में व्यक्त विचार और उसके काव्यबोध को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि वह अपने काव्य में भाषा का व्यवहार कैसे करता है। किसी निश्चत समय और समाज में कवि पहले से चली आ रही भाषा का उपयोग कर भाषा में और अपनी रचना में किस तरह का नयापन लाता है। वह भाषा को किस प्रकार बरतता है। जैसा कि नामवर सिंह कहते हैं, 'प्रत्येक युग के

काव्यबोध को समझने के लिए कवि की भाषा-प्रयोग-विधि हमारे लिए शायद सबसे महत्वपूर्ण कुंजी सिद्ध हो सकती है। पर जैसा कहा गया, आधुनिक कविता का मर्म ग्रहण करने के लिए काव्य भाषा का उपादान ही एकमात्र विश्वसनीय माध्यम रह गया है, जिससे हम इस युग विशेष के काव्य-सर्जन की क्षमता को समझ सकते हैं।'[9]

भाषा वह माध्यम है जिसके द्वारा कविता की वस्तु और शिल्प दोनों अभिव्यक्त होते हैं। जैसा कि काव्य में भाषा की महत्ता के विषय में अज्ञेय कहते हैं, 'काव्य के जो गुण बताये जाते या बताए जा सकते हैं, अंततोगत्वा भाषा के ही गुण हैं।'[10] भाषा ही के द्वारा रचनाकार काव्यवस्तु को कविता के शिल्परूप में प्रस्तुत करता है और पाठकों तक संप्रेषित करता है। दरअसल वह भाषा ही है जिसके द्वारा हम रचना के आंतरिक संघटक को सही रूप से पकड़ सकते हैं तथा भाषा के माध्यम से काव्य की अर्थवत्ता तक पहुँच सकते हैं। भाषा द्वारा ही रचना के शिल्प का मूल्यांकन हो सकता है। कवि द्वारा कविता में व्यक्त विचार और उसके काव्यबोध को समझने के लिए उसके द्वारा किये गए भाषा के प्रयोग को समझना आवश्यक है।

भाषा जहाँ मनुष्य के विकास में सहायक सिद्ध हुई है वहीं यही भाषा शोषण और उत्पीड़न का साधन भी बनी है। शोषक तबके ने इस भाषा का इस्तेमाल करके उत्पीड़ित जातियों के खिलाफ ऐसे विचारों का प्रचार किया जिनसे उन्हें हतोत्साहित किया जा सके। इस भाषा पर अपना कब्ज़ा जमा कर कुछ तबके प्रभावशाली और प्रभुत्वशाली बन गए। भाषा वर्चस्व स्थापित करने का साधन बन गई। न केवल एक भाषा ने दूसरी भाषा पर अपना वर्चस्व बनाया बल्कि एक ही भाषा के प्रयोग करने वालों में भी उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनों की भाषाओं में भिन्नता देखने को मिलती है। समाज के भीतर इस भाषा के इस्तेमाल की अपनी पद्धति होती है: एक ही भाषा-भाषी समाज के भीतर एक ही भाषा अलग-अलग समूहों के बीच अलग-अलग तरीके से चलन में होती है। मिसाल के लिए अभिजात की भाषा और

खेतिहरों की भाषा, प्रभुत्वशाली जातियों की भाषा और दलित वर्गों की भाषा, पुरुषों की भाषा और स्त्रियों की भाषा।

वर्चस्ववादी समुदाय ने भाषा और ज्ञान पर अपना एकाधिकार कर लिया और दूसरे समुदाय को ज्ञान से वंचित कर दिया। अपनी सत्ता और शक्ति के विशेषाधिकार, वर्चस्वशाली तबके को भाषा की बनावट पर वर्चस्व स्थापित करने में परोक्ष-अपरोक्ष रूप से मदद करते हैं। इसके बाद भाषा उनके वर्चस्व को समाज पर स्थापित करने का माध्यम भी बनती है। इसके सूत्रों के रूप में हम देखते हैं कि भाषा में वर्चस्व को दर्शाने वाले शब्द अधिक हैं। भाषा में स्त्री-दलित-अल्पसंख्यक द्वेषी शब्द देखने को मिलते हैं। प्रचलित भाषा इसीलिए अपनी बनावट में ब्राह्मणवादी, जातिवादी, पितृसत्तात्मक, और वर्चस्ववादी है। इस भाषा में प्रभुत्वशाली वर्ग की सोच झलकती है।

अस्मितामूलक कविता भाषा की बनावट में निहित वर्चस्वशाली तत्वों को चुनौती भी है, जिसके जरिए वंचित अस्मिताएं प्रभुत्वशाली तबके का विरोध करते हुए और अपनी संस्कृति को प्रस्तुत करती हैं। यह भाषा कविता की वस्तु और शिल्प की निर्मिति में भी इस संघर्ष को अभिव्यक्त करती है।

दलित अस्मिता की काव्यवस्तु ने काव्य भाषा को दलितों की पीड़ा, अपमान, व्यथा से जोड़ा है। हिंदी कविता में दलित अस्मिता की कविता ने परम्परागत रूप से चली आ रही संस्कृतनिष्ठ भाषा और काव्यशैली को नकार कर दलित जन की विरोध की भाषा को अपनाया है। दलित कवियों ने पाया कि उनकी भाषा और उनका शोषण करने वालों की भाषा एक ही होगी तो वह उनकी संवेदनाओं को कैसे अभिव्यक्त कर पाएगी? समान भाषा उत्पीड़ित तबके के रचनाकारों में अन्याय का आत्मबोध जगाती है। ऐसे में दलित कवियों ने अपनी भाषा के लिए संघर्ष किया उन्होंने अपनी भाषा विकसित की।

दरअसल दलित साहित्य की भाषा नकार और विद्रोह की भाषा है, जो हिंदी कविता की परम्परागत भाषा से अलग है। इस भाषा में शहरों में विकसित मध्यवर्गीय चेतना दिखाई देती है, जिसका कारण यह है कि दलितों को साहित्य में सक्रियता की जगह और अधिकार शहरों में आकर शिक्षित होने और नौकरी पाने के संघर्षों के बाद या उनके जरिए ही हासिल हुए हैं। परन्तु दलित काव्य की भाषा शहरी अभिजात्य संस्कारों की भाषा नहीं है। उनकी भाषा सहज और प्रभावशाली है।

दलित कवियों की भाषा पर यह आरोप लगता रहा है कि उसमें सौन्दर्य नहीं है, उसमें अश्लीलता है। दरअसल दलित साहित्य की भाषा कल्पना आधारित नहीं है, बल्कि जीवन की कटु सच्चाइयों से उपजी भाषा है। इसलिए उसमें सौन्दर्य के परम्परागत मानदंडों को खोजना बेमानी है। दलित अस्मिता, कविता में नए कथ्य को लेकर आती है, जिसमें अपने पूर्व के विचार और परम्परा से विद्रोह है। यह विद्रोह कविता के शिल्प से भी टकराता है और कविता के परम्परागत सौंदर्यबोध सम्बन्धी मूल्यों को भी तोड़ता है। इस सन्दर्भ में हम असंगघोष की कविता देख सकते हैं:

'मैं भी परिंदों की भांति
अनन्त मुक्ताकाश में
विचरण करना चाहता हूँ, परन्तु
जाति के बोझ से झुके कंधे
मुझे उड़ने नहीं देते
इन्हें कैसे हल्का करूं!'[11]

दलित कविता में संस्कृतनिष्ठ भाषा की जगह दलित समुदाय के बीच बोली जाने वाली भाषा और शब्द जगह पाते हैं, जो हिंदी कविता से अब तक दूर रखे गए थे। दलित कविता भाषा की जड़ता को तोड़ उसमें

नयापन और ताजगी लाती है। दलित कविता में दलित समाज के रोजमर्रा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को इस तरह से लाया गया है कि वह दलित कविता को कविता कहने के परम्परागत तरीके से अलग कर देते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में इसे देखा जा सकता है:

‘लड़े युद्ध
जीते भूखण्ड
बदले राज
फिर भी रहे दास।
हाथों में अथाह शक्ति
सीने में धैर्य
मन में विश्वास
फिर भी सही दुत्कार।
नहीं बोये काँटे
बाँटे सिर्फ
सगुन प्यार के
फिर भी रहे अछूत!’[12]

दलित अस्मिता की कविता पर सपाटबयानी का आरोप लगता रहा है। यह कविता गद्यात्मक है, क्योंकि इसको अपनी सांस्कृतिक, राजनीतिक और साहित्यिक दावेदारी पेश करनी है। इस कविता में लयात्मकता के अभाव का कारण यह है कि दलितों की कविताएँ उनके विसंगतिपूर्ण जीवन से उपजी हैं। उन्होंने कविता को शोषण और दमन की अभिव्यक्ति का साधन बनाया है। इसलिए उनकी कविता में यह

गद्यात्मकता आती है। यह गद्याताकता उस सदियों के शोषण और दमन और उसकी स्मृति की भी देन है जिसका दंश उन्हें सदियों से सालता आ रहा है। मोहनदास नैमिशराय की कविता 'मेरे स्मृति दंश' से हम इसे समझ सकते हैं:

'मेरे स्मृति दंश
दहकने लगते हैं जब
मेरे भीतर
उगने लगता है
खौफनाक जंगल,
ध्वंस करने को आतुर
उग्र हो
भट्टी बन उठता हूँ
मैं तब
विस्फोट की तैयारी में
उनकी स्मृतियों के
दहन हेतु।'[13]

दलित साहित्य की भाषा का सम्बन्ध उनके जीवन से है। वह जैसा और जिस परिवेश में जीवन जीते हैं, वहां समाज द्वारा जैसा दूषित वातावरण बना कर रखा गया है, उसकी सवर्ण और प्रभुत्वशाली लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। कँवल भारती की कविता में हम इसे देख सकते हैं:

'तुम क्या जानो

जाति की व्यथा

शोषण की पीड़ा,

अपमान की यंत्रणा

दासता की वेदना

क्योंकि तुम्हारे बाप ने नहीं काढ़ी

मरे जानवरों की खाल

तुम्हारी माँ ने नहीं ढोया मैला

तुम्हारे बच्चों ने

घर-घर जूठन की जुहार नहीं लगायी

तुम्हें कीड़ों से बजबजाते गंदे नालों के किनारे

अँधेरे घरों में रहना नहीं पड़ा।

इसलिए सत्य को देखने की

अनुभूति और वेदना कहाँ है तुम्हारे पास?'[14]

दलित कवि जिस भाषा का प्रयोग करता है उसमें नकार और विरोध, प्रतिरोध और विद्रोह इसी समाज से आते हैं। यह नकार और विद्रोह सदियों से लादी गई अमानवीय व्यवस्था के खिलाफ है। दलित कवि अपने कटु अनुभवों को अपनी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त करता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता से इस अमानवीय वर्णव्यवस्था को समझा जा सकता है:

'कभी सोचा है

गंदे नाले के किनारे बसे

वर्ण-व्यवस्था के मारे लोग

इस तरह क्यों जीते हैं ?

तुम पराये क्यों लगते हो उन्हें

कभी सोचा है?'[15]

दलित साहित्य की भाषा मुक्ति की आकांक्षा से भी निर्मित है। उसमें केवल प्रतिरोध ही नहीं है बल्कि इसमें समता, स्वतंत्रता और सामाजिक न्याय को पाने की संकल्पना और साहस भी है। कँवल भारती अपनी कविता में इन मूल्यों को पाने के लिए सबको साथ आने के लिए कहते हैं:

'आइए, स्वीकार करें

स्वतंत्रता, समानता और बंधुता को

न केवल चिंतन में

बल्कि व्यवहार में,

आचरण में, संस्कार में

मनुष्य और देश के विकास के लिए

विघटन के समूल नाश के लिए।'[16]

दलित कवियों की कविताओं में तत्कालीन समाज की समस्याएं जगह पाती हैं। वे अपने आसपास के माहौल को लेकर चिंतित हैं। आजादी के इतने वर्षों के बाद भी भारत में राजनीतिक दल दंगे करवाते हैं, जिनमें हजारों लोग जान गंवा देते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी कविता 'दंगों के बाद' में इस स्थिति को दर्शाते हैं:

'चौराहे पर/सैनिक टुकड़ी के पाँव तले

धर्मनिरपेक्षता का परचम/दम तोड़ रहा है

जल रहा है

फिर एक बार; यह शहर नंगा हो गया है।'[17]

दलित कवि इस सब स्थिति में अपनी जिम्मेदारी को समझते हैं। वह समाज की सारी विसंगतियों पर न केवल स्वयं खुल कर बोलते हैं बल्कि दूसरों को भी बोलने के लिए कहते हैं। वह इन सब में शब्दों के महत्त्व को भी समझते हैं। वह सच को सच कहने का समर्थन करते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि इस सन्दर्भ में लिखते हैं:

'मैं चाहता हूँ

शब्द चुप्पी तोड़ें

सच को सच

झूठ को झूठ कहें!'[18]

दलित अस्मिता की कविता में प्रयुक्त होने वाली भाषा अबतक कविता में प्रयोग में लायी जाने वाली भाषा से अलग भाषा है। शरण कुमार लिंबाले लिखते हैं,

> दलित साहित्य में व्यक्त हुआ जीवन दर्शन आज तक व्यक्त हुए अनुभव संसार की अपेक्षा अलग है। एक नया संसार, एक नया समाज, एक नया मनुष्य पहले-पहल साहित्य में व्यक्त हुआ है। दलित साहित्य का यथार्थ अलग है। इस यथार्थ की भाषा अलग है। यह भाषा दलितों की गंवार असभ्य भाषा है। यह भाषा दलितों की बोली भाषा है। यह भाषा शिष्ट संकेत और व्याकरण के नियम न मानने वाली भाषा है। ऐसा कहा जाता है कि हर एक दस कोस पर भाषा बदलती है किन्तु दलितों के

> संबंध में अंतर का गणित गलत ठहरता है। एक ही गाँव में – गाँव की भाषा और अछूत टोली की भाषा में भेद दिखाई देता है।[19]

दलित कविता में दलितों के काम से जुड़े शब्द जगह पाते हैं। ऐसा काम जो कि कथित शिष्ट लोग नहीं करते, इसलिए इस तरह के शब्द अभिजात्य कही जाने वाली कविता में नहीं प्रयोग में आते। उनमें भाषा और शब्दों को तराश कर कविता में प्रयोग करने की चाहत नहीं है। उनमें एक सहजता और सरलता है। दलित कवियों की भाषा व्यक्ति की प्रतिष्ठा नहीं करती बल्कि सामूहिकता को प्रतिष्ठित करती है।

दलित अस्मिता की तरह ही, स्त्री अस्मिता की कविता की भाषा भी उसकी काव्यवस्तु से प्रभावित होती है। वे इसको लेकर सजग हैं कि वे इस्तेमाल के लिए जो भाषा उन्हें उपलब्ध है, वह पितृसत्तात्मक समाज और विचारधारा के ढांचे में ढली है। इस भाषा में लैंगिक भेदभाव विद्यमान है, जो स्त्रियों की संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं है। इसी संदर्भ में सुधा सिंह लिखती हैं,

> भाषा जो स्त्री की नहीं है उसमें स्त्री कैसे अपने को अभिव्यक्त करती है। उसकी अभिव्यक्ति में क्या सामान्य और विशिष्ठ कठिनाइयाँ होती हैं। भाषा के वर्गीय आधार पर देखें तो शक्तिशाली और दमित की भाषा में क्या अंतर होता है। स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए असहज भाषा का प्रयोग स्त्री जब करती है तो उसे कितनी असहजताओं से गुजरना पड़ता है, उस भाषा को आत्मसात करने के लिए कितने अतिरिक्त प्रयास करने पड़ते हैं।[20]

स्त्री, पितृसत्ता से उसी की भाषा में लड़ती है। वो भाषा को पुरुषवादी संस्कारों से बाहर लाकर अपनी स्त्रीवादी चेतना में ढालती है।

ऐसा नहीं रहा है कि भाषा हमेशा ही पुरुषवादी थी। भाषा के विकास में स्त्रियों की भी भागीदारी रही है। मैनेजर पाण्डेय ने अपने एक साक्षात्कार में कहा है, 'सारी दुनिया में भाषाओं के निर्माण, विकास और संरक्षण का काम सबसे ज्यादा स्त्रियों ने किया है। ...यह अकारण नहीं है कि दुनिया में भाषाओं को केवल मातृभाषा कहा जाता है, कहीं पितृभाषा नहीं कहा जाता है।''[21] परन्तु जैसे समाज पर पुरुषों का आधिपत्य स्थापित हुआ, वैसे ही भाषा पर उनका वर्चस्व भी स्थापित होने लगा। आज सारी भाषाएँ पुरुषवादी हैं। ये स्त्रियों के आत्मबोध के लिए चुनौती हैं। जैसा कि रेखा कस्वार लिखती हैं, 'अब तक की उपलब्ध भाषा पुरुष की भाषा है जिसमें स्त्री की तरह सोचा या अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है।'[22]

इसलिए स्त्री अस्मिता एक ऐसी भाषा को रचने का प्रयास करती है जिसमें वह स्वयं को अभिव्यक्त कर सके। स्त्री अस्मिता यह जानती है कि लिंग निरपेक्ष भाषा के बिना स्त्री मुक्ति संभव नहीं है। भाषा किसी भी अस्मिता का एक जरूरी तत्व है। इसलिए स्त्री अस्मिता स्त्री भाषा की रचना के लिए अग्रसर है।

स्त्रियां भाषा को अपनी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के अनुकूल बना रही हैं। मिसाल के लिए अनामिका भाषा की इस सीमा को अपनी कविता 'अनुवाद' के माध्यम से बताती है, और उसे अपने अनुसार ढालने के संकेत भी देती हैं:

'दरअसल इस पूरे घर का
किसी दूसरी भाषा में
अनुवाद चाहती हूँ मैं.'[23]

स्त्री अस्मिता की कविता में प्रयुक्त होने वाली भाषा दलित अस्मिता की कविता की भाषा से अलग है। उसमें नकार और विद्रोह का रूप वही नहीं है जो दलित कविता में दिखाई देता है। स्त्री अस्मिता की कविताओं की भाषा में मुक्ति की आकांक्षा अधिक दिखाई देती है। सविता सिंह की कविता 'मुक्ति' इसी आकांक्षा को व्यक्त करती है:

'समय की खाली आँखों में
तैरती शताब्दियाँ
और वह उनमें तैरती मटमैली छायाओं की तरह
रोज़ मुझसे पूछती
कैसे मुक्त होऊं'[24]

कात्यायनी अपनी कविता के माध्यम से इस मुक्ति की आकांक्षा को हकीकत में तबदील करने के लिए प्रेरित करती हैं:

'मुक्ति की चाहत को
सपनों की दुनिया से
बाहर लाना होगा।'[25]

कवयित्रियां इस बात को लेकर सजग हैं कि आम तौर पर स्त्रियों को परिवार की उलझनों में फंसा कर उनके अन्दर संघर्ष की प्रवृत्ति दबा दी गयी है और वे मुक्त होने के लिए निर्णय आसानी से नहीं ले पातीं। यह कशमकश स्त्री अस्मिता की कविता की भाषा में उभर कर आता है। यह द्वंद्व उनकी भाषा की निर्मिति का मुख्य तत्व है। ममता कालिया इसे अपनी कविता में बखूबी उतारती हैं:

'आज और दाम्पत्य निभा लूँ
आज और घरबार सँभालू।
आज और कर लो दो बातें
ले लो और दे दो सौगातें।
सारी सीमा कल तोड़ूंगी
आज नहीं मैं कल बोलूंगी।'[26]

स्त्री अस्मिता की कविता की भाषा की निर्मिति इन्हीं अंतर्विरोधों से जूझते हुए होती है। उनमें पुरुषवादी भाषा के प्रति विद्रोह भी दिखता है, लेकिन साथ ही वे स्वयं भी भाषा के पुरुषवादी मानदंडों का प्रयोग करती दिखती हैं। कई बार, उनकी कविताओं में सामंती पितृसत्तात्मक संस्थाओं के प्रति आस्था का भाव और मध्यवर्गीय संस्कार भी दिखता है। उनकी भाषा में संस्कृतनिष्ठ शब्दावली भी जगह पाती है तथा उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी धड़ल्ले से इस्तेमाल होता है। अनामिका की कविता में अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग देखें:

'टु बी ऑर नॉट टु बी दैट इज द क्वेश्चन'-
इतनी अंगरेजी तो सीखी थी
कि इसका मर्म मैं समझ लेती!
काश, सीखी होती अंगरेजियत भी इतनी
कि ठीक से बांधना आता
फांसी का फंदा, टाई की नॉट और जूते का फीता!'[27]

स्त्री अस्मिता की भाषा स्त्रियों की संवेदनाओं से निर्मित होती है, उसकी भाषा में लयात्मकता है, रस है। स्त्री की भाषा में उनकी पीड़ा उनका दर्द झलकता है तो वह भी लयबद्ध होता है। जिसे अनामिका इस तरह बताती हैं, 'बतरस के इस शहद की धारक भी स्त्रियाँ ही हैं। लोरियां, लोककथाएं, संस्कार गीत, सब इसका साक्ष्य वहन करते हैं। और तो और औरतों के रोने में भी संगीत है – बहुधा वे गाती हुई और

बोलती हुई रोती हैं।'[28] स्त्री अस्मिता की भाषा में हमें स्त्रियों के जीवन और दुःख-दर्द से जुड़े शब्द इसी संवेदनात्मक रूप में दिखाई देते हैं। उनका जीवन श्रम से जुड़ा हुआ है, वे घर-परिवार में सुबह से लेकर शाम तक श्रम करती हैं, इसलिए उनकी भाषा में उनके श्रम से पैदा हुई लयात्मकता भी दिखाई देती है। सविता सिंह की कविता में हम इसे देख सकते हैं:

'मैं किसकी औरत हूँ
कौन है मेरा परमेश्वर
किसके पाँव दबाती हूँ
किसका दिया खाती हूँ
किसकी मार सहती हूँ...'[29]

स्त्री अस्मिता की कविताओं में तत्कालीन समाज की विसंगतियां भी जगह पाती हैं। आज बाज़ार ने जैसे हर जगह अपना कब्ज़ा जमा लिया है, वह हमसब की ज़िन्दगी में भीतर तक घुस गया है। इसको सविता सिंह अपनी कविता में अभिव्यक्त करती हैं। साथ ही यह बाज़ार कैसे स्त्रियों को वस्तु में बदल रहा है और उनके जरिए वस्तुओं का विज्ञापन कर रहा है यह भी वह दिखाती हैं:

'खरीदनी है अगर दवा तो देखो स्त्री को
दर्द से ज़्यादा असरदार है उसकी कमर
तेल से ज़्यादा सुन्दर हैं केश कपड़ों से ज़्यादा देह

देखो चमकीली आँखें चिकनी त्वचा'[30]

स्त्री अस्मिता की कविता की भाषा स्त्री की पीड़ा, उसकी वेदना, मुक्ति की आकांक्षा, पितृसत्तात्मक समाज से विद्रोह आदि से ही निर्मित होती है। उसमें उनके रोजमर्रा के जीवन से जुड़े शब्द आते हैं। उनकी भावनाएं, संवेदनाएं इस भाषा को बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। अनामिका इसे कुछ इन शब्दों में बताती हैं कि 'स्त्री-भाषा की सबसे बड़ी ताकत है त्रास और मुक्ति के आनंद का समायोजन, तर्क और अंतः प्रज्ञामूलक उस अर्धविस्मृत भाषिक लय का समायोजन जो गर्भगृह में माँ की देह से छनकर शिशु की देह में उतर आता है – प्रसवकालीन क्रमण और संकुचन, स्तन पकड़ने-छुड़ाने की लय, बत्ती जलने-बुझने की लय, स्वीकार-निषेध की लय एक तरह से औरतों के जीवन की लय भी हो जाती है और उनकी भाषा भी।'[31] अनामिका अपने इन शब्दों के द्वारा स्त्रियों की भाषा की निर्मिति की पूरी संरचना को हमारे सामने प्रस्तुत कर देती हैं। यही वह सारे तंतु हैं जो स्त्रियों की भाषा को बनाते हैं, जो उनकी भाषा को पुरुषवादी संस्कारों से अलग करते हैं। इस तरह स्त्री अस्मिता की कविता में आने वाली वस्तु उनके अनुभवों से समृद्ध होती है जो उनकी काव्यभाषा को भी समृद्ध करती है। यह स्त्री अस्मिता की भाषा और काव्यवस्तु एक दूसरे को भी प्रभावित करती हैं।

आदिवासी अस्मिता के सन्दर्भ में यदि हम काव्यवस्तु और भाषा के सम्बन्ध पर विचार करें तो हम देखते हैं कि आदिवासी अस्मिता की कविता की भाषा आदिवासी समाज की लोकसंस्कृति से जुड़ी

हुई है। पिछले अध्यायों में हम जिन संघर्षों की चर्चा कर आए हैं, वही संघर्ष उनकी काव्यभाषा का निर्माण भी करते हैं। आदिवासी समाज की अपनी अनेकों भाषाएँ हैं जिनमें वह अपने दुःख, पीड़ा, हर्ष-उल्लास आदि को अभिव्यक्त करते हैं। उनकी भाषा में प्रकृति का सान्निध्य है और ज्ञान की एक समृद्ध परम्परा है। उनकी कविता अपनी भाषा की ऊर्जा आदिवासी लोकभाषा और उसके समृद्ध मौखिक साहित्य से प्राप्त करती है। आदिवासी अस्मिता की कविता में जल, जंगल, जमीन और प्रकृति से जुड़े ऐसे शब्द, बिम्ब और प्रतीक आते हैं जो हिंदी कविता में पहले से चले आ रहे प्रकृति के उपादानों से भिन्न हैं। इसी कारण यह हिंदी कविता की परम्परागत भाषा को न व्यक्त कर अपनी अलग भाषा की निर्मिति करते हैं। इन कविताओं में प्रकृति की लय और सौन्दर्य है। उनकी कविताओं की भाषा प्रकृति को नष्ट किये जाने की चिंता से भी बनी है। उनके लिए प्रकृति के साथ छेड़छाड़ सबसे बड़ी चिंता की बात है। ग्रेस कुजूर अपनी कविता में इसी चिंता को अभिव्यक्त करती हैं:

‘कहाँ गई वह सुगंध
महुआ और डोरी की
गूलर और केयोंद की
कहाँ खो गया बांसों का संगीत
और जाने कहाँ उड़ गई
संधना की सुगंध?’[32]

उनकी कविताओं में उनके आन्दोलनों और उनके नायकों की स्मृतियाँ, उनसे जुड़ी कथाएँ व लोकगीत हैं। यही सब आदिवासी भाषा को बनाते हैं। भुजंग मेश्राम की कविता 'ओ मेरे बिरसा' में इसे देख सकते हैं:

'लोग केवल गीत ही नहीं
गाते तेरे
वे सुनते हैं-बोलते हैं
मरते हैं
घर-बाहर-पाठशाला-बाज़ार
मोर्चा जंगलात
बदलाव के लिए
हमने नहीं देखा तुझे पहले
लेकिन केवल तुम ही
हमारे विद्रोह को
दिशा देते हो
तब तुमने ही तो किया था संघर्ष
गोरों को खदेड़ने की खातिर
सिंघभूम, मंडला, वसई
चंद्रपुर को करने को आजाद
बचाने के लिए हरे-भरे जंगल'[33]

आदिवासी कवि बोलियों का उपयोग भी करते हैं। उनकी भाषा उनकी मिट्टी की गंध से बनी है, और उनकी अभिव्यक्ति बहुत सहज और सरल है। उनकी कविताओं में भाषा की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति देखने को नहीं मिलती। वह अपनी बात कहने के लिए भाषा और शब्दों को तोड़मरोड़ कर पेश करने में विश्वास नहीं करते हैं। आदिवासी समाज अपेक्षाकृत सादगी भरा समाज है जो उनकी कविताओं में भी दिखाई देता है। मिसाल के लिए सरिता बड़ाइक की यह कविता देखी जा सकती है:

'पुआल की गांज में
चौकड़ी धमाल
डांडी-चुआ, पोखर-पतरा
दोईन टांड अखरा में
नाच लगाना
पुआल के कुन्बा और
सगड़ में चिल्ला-चिल्ला कर गाए
गीत
अब बन गये अतीत'[34]

आदिवासी कविताओं की भाषा में दलितों की तरह गद्यात्मकता नहीं है, उनकी कविता लयात्मक है। उनमें रस है। उनकी भाषा में खुरदरापन नहीं है, बल्कि लयात्मकता, रवानी और संगीत रहता है। रणेंद्र की कविता में इसे देखें:

‘छऊआ सूरजा की

नींद बोझिल सुर्ख आँखें

खुलने के पहर पहले,

खुल गए ढेकियों के स्वर,

ढकात ढक, ढकात ढक संग

बरतनों की झनन मनन,

घड़ा-तसला-तसली सब

चुआं-नदी-पझरा के दुआर,

भींगे आंचर कमर लपेटे

पार कर रहे पगडंडी पठार।’[35]

आदिवासी कविताओं में विस्थापन के दर्द की अभिव्यक्ति भी बहुत अधिक हुई है जिसके कारण उनकी भाषा में उसका दर्द भी आता है। हरीराम मीणा की कविता आदिवासियों की उनकी जमीन से बेदखली को दर्ज करती है:

‘सभ्यता के नाम पर

आखिर कर ही दिए जाओगे बेदखल

हजारों सालों की तुम्हारी

पुश्तैनी ‘भौम’ से

कोई और होंगे अब क़ानूनी हक़दार

नारियल के इन दरख्तों के'[36]

इस तरह, यह स्पष्ट दिख रहा है कि आदिवासी कविता हिंदी साहित्य में एक नई दुनिया रच रही है, एक नए अनुभव संसार, एक नए मुहावरे, एक नई दृष्टि, भाषा और भावबोध से परिचित करा रही है।

हमने ऊपर देखा कि किस तरह दलित कविता अपने आक्रोश और मुक्ति की अपनी वैचारिकी को पेश करते हुए गद्यात्मक लहजा अपना लेती है, वहीं स्त्री अस्मिता की कविता वेदना, विवशता, छटपटाहट की अभिव्यक्ति करती है और जीवन की रागात्मकता में ही मुक्ति के स्वप्न देखने और खोजने की कोशिश करती है। स्त्री अस्मिता की कविता में दलित कविताओं की तरह घोषणाएं और बयान कम हैं, इसकी वजह यह भी हो सकती है कि भारत में स्त्रीवादी आंदोलन उस तरह विकसित नहीं हो पाए हैं, जैसे दलित राजनीति का विकास हुआ है। इनके बरअक्स आदिवासी अस्मिता की कविता अभी अपेक्षाकृत नई है उसमें भी पीड़ा और वेदना की ही अभिव्यक्ति अधिक हो रही है। क्रोध और गुस्से का उसमें भी अभाव है।

इन तीनों अस्मिताओं की कविता की भाषा में एक बात यह देखने को मिलती है कि इन कविताओं में व्यंग्य उस तरह देखने को नहीं मिलता जैसे समकालीन कविता में दिखता है। व्यंग्य विसंगतियों से उपजता है। इन तीनों अस्मिताओं के परिवेश में विसंगतियां भरी हुई हैं फिर भी इनमें व्यंग्य का अपेक्षाकृत अभाव देखने को मिलता है। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि इन्होंने काव्यभाषा

को विद्रोह के एक औजार के रूप में अपनाया जिसकी वजह से यहाँ व्यंग्य की बजाय भाषा से युद्ध में लड़ने के लिए औजार का कम लिया गया। दूसरा एक कारण यह हो सकता है कि ये अस्मिताएं अभी खुद को स्थापित और परिभाषित करने के दौर से गुजर रही हैं, जिसमें अपनी स्थिति को परिभाषित करने और अपने शोषकों को ठीक-ठीक पहचानने की जरूरत है। ऐसे में अपने जीवन का कटु, ठोस यथार्थ इन अस्मिताओं की प्राथमिकता में है।

अस्मिता : काव्यवस्तु और प्रतीक, बिम्ब एवं मिथक

साहित्य में प्रतीक, बिम्ब और मिथकों की महत्ता सर्वविदित है। साहित्यकार प्रतीक, बिम्ब और मिथकों के द्वारा अपने भावों और विचारों को प्रभावशाली तरीके से रचना में अभिव्यक्त करता है। कविता विधा के रूप में प्रतीक, बिम्ब और मिथकों की महत्ता तो और बढ़ जाती है क्योंकि कविता का शिल्प ऐसा है जिसमें कम से कम शब्दों में अधिक और गूढ़ बात कही जाती है। अस्मिता आधारित कविता में भी प्रतीक, बिम्ब और मिथकों का महत्वपूर्ण स्थान है। अस्मिता आधारित तीनों चिन्तनों से जुड़ी कविता में प्रतीक, बिम्ब और मिथक का प्रयोग हुआ है। अस्मिता आधारित कविता ने इन प्रतीक, बिम्ब और मिथक के जरिये अपने समय, समाज, संस्कृति और राजनीतिक पक्षधरता को प्रस्तुत किया है। किसी कविता में किस प्रकार के प्रतीक, बिम्ब और मिथक को जगह मिलती है यह उस कवि के परिवेश, उसकी

सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक पक्षधरता पर निर्भर करता है। अस्मिता की कविता ने काव्य में चले आ रहे परम्परागत प्रतीक, बिम्ब और मिथकों को नकार कर अपने काव्य में नए प्रतीक, बिम्ब और मिथकों को रचा है। यह रचना उनकी सामाजिक चेतना पर आधारित है जिससे उनकी काव्यवस्तु निर्मित होती है।

स्त्री अस्मिता के काव्य में जो प्रतीक प्रयोग में लाए गए हैं वह सदियों से चले आ रहे उनके पितृसत्तात्मक शोषण को दर्शाते हैं। उन प्रतीकों के माध्यम से उन्होंने अपने ऊपर हुए सदियों के शोषण को अभिव्यक्त किया है, साथ ही स्त्री अस्मिता की कविता ने अपनी प्रतीक योजना से अपनी मुक्ति की आकांक्षा को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है। स्त्री अस्मिता की कविता ने अपने नए प्रतीक गढ़े हैं और यदि कहीं उन्होंने परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग भी किया है तो उनमें उन्होंने नए अर्थ भरे हैं। स्त्री अस्मिता की कविताओं में प्रयुक्त होने वाले प्रतीकों में रोशनी, स्वप्न, रसोई, ईश्वर, धर्म, सांप, आसमान, अँधेरा, बारिश, परदा, बाज़ार, घास, रात, बसंत, सागर, घर आदि आमफहम प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। परन्तु कुछ सबसे ज्यादा और लगभग सभी कवयित्रियों की कविता में प्रयुक्त होने वाले प्रतीक भी हैं जैसे पृथ्वी, देह, चिड़िया आदि जो असल में स्त्री कविता की पूरी समझ को हमारे सामने रखते हैं।

कात्यायनी की कविता में हम देह के प्रतीक को इस तरह देखते हैं:

‘देह नहीं होती है

एक दिन स्त्री

और

उलट-पुलट जाती है

सारी दुनिया

अचानक![37]

देह स्त्री अस्मिता की कविता में बार-बार इसलिए आता है क्योंकि इस पितृसत्ता ने उन्हें हमेशा देह से आगे बढ़कर कभी इन्सान नहीं समझा। स्त्रियों को हमेशा भोग की वस्तु की तरह देखा गया। उन्हें पुरुषों के अधीन बनाकर उनकी देह पर भी उसी का अधिकार स्थापित कर दिया। इस तरह स्त्रियों का शोषण उनकी देह से शुरू होकर समस्त सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक स्तरों तक पहुँचता है। स्त्री की देह को उसके शोषण की धुरी बना दिया गया।

स्त्री अस्मिता की कविता में दूसरा जो प्रतीक आता है, वह है चिड़िया का। यह स्त्री को मुक्ति के लिए प्रेरित करने वाला प्रतीक है। स्त्रियां अपनी तुलना पंछी से करती रही हैं। यह एक परम्परागत प्रतीक है परन्तु स्त्रियों ने इसे अपने से जोड़कर इसमें नए अर्थ भर दिए हैं। सुमन केशरी ने इस चिड़िया के प्रतीक को अपनी कविताओं में कई बार और कई तरीके से प्रयोग किया है। उनकी एक कविता देखते हैं:

‘वह जो देखना चाहते हैं

भय से विरूप चेहरे

खंडित जीवन

धमाके के बाद

उनसे कोई कह दे कि

चिड़ियाँ चहकेंगी रोज सुबह

धमाके के बावजूद'[38]

स्त्री के धीरज, उसके संयम और साहस के प्रतीक के रूप में 'पृथ्वी' और 'धरती' को भी काफी प्रयोग में लाया गया है। अनामिका की कविता 'गृहलक्ष्मी' में हम इसको देख सकते हैं:

'मैं रोटी बेलती हूँ जैसे पृथ्वी।

पृथ्वी—जो खुद एक लोई है-

सूरज के हाथों में

रख दी गयी है

पूरी-की-पूरी ही सामने

कि लो, इसे बेलो, पकाओ,'[39]

स्त्री अस्मिता की कविता में जो प्रतीक प्रयोग में आए हैं उन्होंने न केवल हिंदी कविता को और उसके शिल्प को समृद्ध किया है बल्कि स्त्री अस्मिता की कविता को भी नए आयाम दिए हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से उन्होंने पितृसत्तात्मक समाज के द्वारा स्त्रियों के शोषण के खिलाफ अपने आवेग और संघर्ष को अभिव्यक्त किया है। ये प्रतीक स्त्री अस्मिता की कविता की पहचान बन गए हैं।

दलित अस्मिता की कविता में जो प्रतीक आते हैं वह उनके जीवन की पीड़ा, दुःख, दर्द, बेबसी और शोषण उत्पीड़न से निर्मित हुए हैं। उनकी कविता में परम्परागत प्रतीक प्राय: नहीं आते, उसकी जगह उन्होंने अपने नए प्रतीकों को गढ़ा है। उनके प्रतीक सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने के लिए गढ़े गए हैं, जो दलितों के आक्रोश को अभिव्यक्त करते हैं। परम्परागत प्रतीक जातिवादी विचारधारा को अभिव्यक्त करने वाले प्रतीक थे और दलितों के अस्मितामूलक चिंतन के कार्यभारों में से एक इन परम्परागत प्रतीकों का नकार और उनका खंडन भी है। दलित अस्मिता की कविता में धर्म, ईश्वर, लकड़ी, चूल्हा, हांड़ी, खेत, समंदर, बस्ती, प्यास, बनिया, बारिश, शहर, गाँव, गाय, खण्डर, राख, आदि प्रयोग में लाए गए हैं। दलित अस्मिता की कविता में कुछ प्रतीक विशेषरूप से इस्तेमाल किए गए है जो मात्र शब्द नहीं हैं, वे उनके जीवन में कहीं अधिक महत्व रखते हैं। ऐसे प्रतीकों को लगभग सभी दलित कवियों ने इस्तेमाल किया है जैसे कुआँ, ब्राह्मण, झाड़ू, कलम, भूख, सूर्य, सूरज, रोशनी, प्रकाश, रात-दिन, ज्वालामुखी आदि।

मोहनदास नैमिशराय की कविता में झाड़ू और कलम के प्रयोग देखिए:

‘कल मेरे हाथ में झाड़ू था
आज कलम
कल झाड़ू से मैं तुम्हारी गन्दगी हटाता था
आज कलम से।’[40]

झाड़ू और कलम ऐसे प्रतीक हैं जो दलित कविता में बार-बार आते हैं। झाड़ू जहाँ उन्हें उनके अतीत से जोड़ती है वहीं कलम उन्हें उनके वर्तमान और भविष्य की संभावनाओं से। झाड़ू उनके श्रम का प्रतीक है और कलम शिक्षा के प्रति चेतना का। वह कलम की ताकत से समाज बदलने की आशा करते हैं। वह उस शिक्षा को भी पाना चाहते हैं जिससे उन्हें सदियों से वंचित रखा गया था। यह प्रतीक दलित कविता में बार-बार और कई सन्दर्भों और अर्थों के साथ आते हैं। इसके अलावा दलित कविता में ब्राह्मण भी बार-बार आते हैं, जो किसी व्यक्ति का नहीं बल्कि एक व्यवस्था के प्रतीक हैं। मिसाल के लिए असंगघोष की कविता के प्रतीक को देख सकते हैं:

‘ब्राह्मण!
तुमने कहा
मैं ब्रम्हा के मुख से
पैदा हुआ,
गाँव का ठाकुर
हाथों से जन्मा,
उदर से बनिया,
मेरा जन्मना
तुमने ब्रम्हा के पैरों से बताया
इस तरह सृष्टि रची गई।

तुम्हारे अनुसार

ब्रम्हा ने भिन्न-भिन्न अंगों से

मानव पैदा किये

प्रश्न उपस्थित होता है

क्या ब्रम्हा योनियों के बने थे? या

मुख, हस्त, उदर, पाँव मैथुन के आदि थे?

बोलो! है उत्तर तुम्हारे पास?'[41]

सूरज भी एक ऐसा ही प्रतीक है जो दलित कविता में बहुतायत में एक नए अर्थ में प्रयोग में लाया गया है। यहाँ यह एक नयी चेतना, विश्वास और घुटन भरी ज़िन्दगी को समाप्त कर एक नयी ज़िन्दगी में जाने का, एक मूलगानी क्रांति का प्रतीक है। संदर्भ के मुताबिक इसके अनेक अर्थ हो सकते हैं। सुशीला टाकभौरे की कविता में हम इसको चेतना और क्रांति के प्रतीक के रूप में देख सकते हैं:

'लाख कोशिश की दुश्मनों ने

हमारे हिस्से के सूरज को ढांकने की

फिर भी

चमका है दुनियाँ के आकाश में

हमारा क्रांतिसूर्य।'[42]

ऐसे ही प्रतीकों का प्रयोग दलित अस्मिता की कविता में बहुत हुआ है जो उनके जीवन और जगत से जुड़े हुए हैं। उन्होंने इन प्रतीकों के माध्यम से अपने जीवन को नया अर्थ दिया है और सदियों से चले आ रहे शोषण, दमन और उत्पीड़न के खिलाफ अपने विद्रोह और आक्रोश को भी व्यक्त किया है।

आदिवासी अस्मिता की कविताओं में जो प्रतीक प्रयोग में लाए गए हैं वे अधिकतर उनके अपने परिवेश और समाज से जुड़े हुए हैं। उनकी कविताओं के प्रतीक उनके विद्रोह, उनके आंदोलनों से निकले हैं, साथ ही उनकी स्थानीय भाषा से भी निर्मित हुए हैं। उनकी कविताओं में प्रकृति से जुड़े हुए प्रतीक अधिक मिलते हैं जैसे वन, नदी, पहाड़, जंगल, सहजन, स्वप्न, सूर्य, पत्थर, मिट्टी, हल-बैल, धान, फूल, पेड़, आंसू, मृत्यु, भूख, शहर, आदि। उनके प्रतीकों में भी उनकी श्रम से जुड़ी ज़िन्दगी दिखाई देती है। आदिवासी अस्मिता की कविता में एक शब्द अपने परम्परागत अर्थ की जगह अपने विपरीत अर्थ में बार-बार आता है – वह है 'विकास'। इसी विकास के नाम पर उन्हें यातनाएं सहनी पड़ रही है उन्हें उनके जल, जंगल, जमीन से उजाड़ा जा रहा है इसलिए यह शब्द प्रतीक स्वरूप उनकी कविता में अपने विपरीत अर्थ में आता है। डॉ. राम दयाल मुंडा की कविता में हम इसके प्रयोग को देख सकते हैं:

'मुझको विकास का
दर्द यह असह्य
देर तक सहना न होगा
समय से पहले ही मेरा

काम तमाम होगा?'[43]

इसी प्रकार आदिवासी कविता में जंगल शब्द का भी बहुत प्रयोग हुआ है। इस जंगल से ही उन्हें पहचाना जाता रहा है। अब वह इसे अपनी सभ्यता और संस्कृति के रूप में देखते हैं जो प्रकृति के करीब है। इस जंगल को जब उजाड़ा जा रहा है तो इसका मतलब आदिवासी सभ्यता और संस्कृति को उजाड़ा जा रहा है। जंगल की इस तबाही के खिलाफ आदिवासी कविता में मुखर रूप से अपनी आवाज को उठाया गया है। महादेव टोप्पो की कविता में हम इसे देख सकते हैं:

'जब जंगल की
सारी विद्रोही आवाजों को
जंगल के पेड़ों के हरेपन को
हरे-भरे होकर सीना तान
पहाड़ों पर घाटियों में
उगने लहराने की
उनकी आकांक्षा को
महुए की बोतल में
डुबोने की हो साजिश
इस जंगल का कवि
रहेगा भले कैसे चुप?'[44]

आदिवासी समाज पर जो अघोषित युद्ध थोपा जा रहा है, उसके खिलाफ उनकी कविता में विद्रोह के प्रतीक भी देखने को मिलते हैं। ऐसे ही प्रतीक हैं तीर और कमान। इसके साथ अब कलम भी जुड़ गया है जो उनमें उत्पन्न चेतना का प्रतीक है। ग्रेस कुजूर की कविता में हम इनके प्रयोग को देख सकते हैं:

'उगल रही धरती आग है
धुआं हमने पीया है
बूंद-बूंद को तरसे लोग
बूंद बहा कर जीया है
नदियाँ हो गई कमान सब पर्वत तीर
देखना बाकी है कलम को तीर होने दो'[45]

प्रतीकों की व्यवस्था के रूप में भाषा की वर्चस्ववादी संरचना को चुनौती देती हुई हाशिए की अस्मिताएं विरोध, नए सपनों, नई परिकल्पनाओं के नए प्रतीक गढ़ रही हैं। इसके लिए वे परम्परा से प्राप्त प्रतीकों को खारिज भी कर रही हैं, या अगर जरूरत हो तो उनमें नए अर्थ भी भर रही हैं।

कविता में बिम्ब की अनिवार्यता पर लगभग सभी विद्वान सहमत हैं। बिम्ब के माध्यम से कवि अपने भावों और विचारों को प्रभावशाली ढंग से कविता में प्रस्तुत करता है। कवि शब्दों के माध्यम से ऐसे चित्र बनाता है जो पाठकों के सामने सजीव हो उठते हैं। असल में बिम्ब कवि की चित्रात्मक भाषा है जो पाठक के सामने चित्र की भांति प्रस्तुत होती है। बिम्ब के द्वारा कवि अपने भावों और विचारों को मूर्त

रूप प्रदान करता है। वह अपनी भावनाओं और संवेदनाओं को चित्रबद्ध करके पाठक के समक्ष प्रतिबिंबित करता है। वास्तव में बिम्ब काव्यात्मक भावों और विचारों को सघनता प्रदान कर उन्हें चाक्षुष रूप प्रदान करता है। यह सूक्ष्म मनोभावों की अभिव्यक्ति तो करता ही है साथ ही पाठकों की कल्पनाशक्ति को भी बढ़ाता है। काव्यगत मनोभाव बिम्ब के कारण ही पाठकों के मानस पटल पर चित्रपट की भांति सजीव प्रभाव अंकित करते हैं। बिम्ब के द्वारा कवि हमारे ऐन्द्रियबोध के माध्यम से भावों का प्रत्यक्षीकरण करता है। वह हमारे ऐन्द्रियबोध को बढ़ाता है।

बिम्ब की योजना करते समय कवि को सचेत रहना पड़ता है। बिम्ब जीवन के सामाजिक यथार्थ और उसके अनुभवों पर आधारित होने चाहिए अन्यथा वह भाव के सम्प्रेषण में अवरोध उत्पन्न कर सकते हैं। बिम्ब भाषा की काव्याभिव्यक्ति को बढ़ाते हैं। केदारनाथ सिंह बिम्ब के सन्दर्भ में कहते हैं कि, 'किसी अप्रस्तुत अथवा शब्दचित्र के बिम्ब के स्तर तक पहुँचने के लिए केवल यही आवश्यक नहीं है कि वह भौतिक अर्थ में मूर्त हो बल्कि यह उससे भी ज्यादा आवश्यक है कि वह ऐतिहासिक अर्थ में भी मूर्त हो।'[46] दरअसल बिम्ब अपनी ऐतिहासिक सार्थकता से ही गूढ़ और सघन अर्थ प्राप्त कर सकते हैं। बिम्ब में यदि तत्कालिकता के भाव के साथ उसका ऐतिहासिक भाव निहित होगा तो वह और भी सार्थक सिद्ध होगा।

अस्मिता आधारित कविता में यह बिम्ब कवियों के सामाजिक यथार्थ से उत्पन्न हुए हैं। उनमें उनके जीवन की सच्चाइयाँ अभिव्यक्त हुई हैं। हाशिए के समाज का जो शोषण सदियों से चला आ रहा है वे बिम्ब के द्वारा अपनी कविता में उसकी अभिव्यक्ति करते हैं।

दलित अस्मिता की कविताओं में बिम्ब उनके जीवन के सामाजिक यथार्थ को हुबहू उतारने में सहायता करते हैं। दलित बस्तियां, उनकी घुटन भरी जिंदगी, उनका शोषण, उनकी भूख, अँधेरा और सीलन से भरे उनके घर, गंदगी की सड़ांध जो उनके जीवन का हिस्सा रही हैं, यह सब बिम्ब के माध्यम से दलित अस्मिता की कविताओं में अभिव्यक्त होते हैं।

दलित कविता में यथार्थ की विडंबनाएं सवाल बनकर बार-बार बिम्ब के रूप में आती हैं। जिन खेतों पर जोतने वालों का अधिकार होना चाहिए, जिन फसलों पर उगाने वाले का हक होना चाहिए, वही भूमिहीन किसान अच्छी फसल होने के बाद भी मजदूरी करने के लिए मजबूर होता है और कर्जदार बना रहता है। वही खेत, वही फसल उसकी उदासी दूर नहीं कर पाते। ओमप्रकाश वाल्मीकि इसका बड़ा मार्मिक बिम्ब रचते हैं:

‘खेत उदास हैं-
भरपूर फसल के बाद भी
सिर पर तसला रखे हरिया

चढ़-उतर रहा है एक-एक सीढ़ी

ऊंची उठती दीवार पर'[47]

मलखान सिंह श्रमिकों के इस शोषणकारी, असमान और अमानवीय बंटवारे को बिम्ब रूप में पाठक के सामने रखते हैं। जाति की लकीर इतनी गहरी और स्थायी है कि शोषित लोग भी अक्सर इससे पार पाने की नहीं सोच पाते। इसे वह बड़ी ही चित्रात्मकता के साथ पाठकों के समक्ष प्रत्यक्ष कर देते हैं:

'मरते समय बाप ने

डबडबाई आंखों से कहा था कि बेटे

इज्जत, इंसाफ और बुनियादी हकूक

सबके सब आदमी के आभूषण हैं

हम गुलामों के नहीं

मेरी बात मानो-

अपने वंश के हित में

आदमी बनने का ख्वाब छोड़ दो

और चुप रहो।'[48]

स्त्री अस्मिता की कविता में पितृसत्ता से उपजी उनके जीवन की त्रासदी, उसकी विसंगतियों से निर्मित बिम्ब आते हैं। इस कविता में घर-गृहस्थी से जुड़े बिम्ब जगह पाते हैं। स्त्रियां अपनी छोटी से छोटी

संवेदनाओं को बिम्ब के माध्यम से प्रस्तुत करती हैं। उनके जीवन का संघर्ष बिम्ब के रूप में उनकी कविता में आता है। उनके बिम्ब पितृसत्ता और जातीय सत्ता से जुड़ी उनकी कैद और यातना को उभारते हैं। मिसाल के लिए अनीता वर्मा अपनी कविता में स्त्रियों पर हो रहे दोहरे शोषण को अपनी कविता में दर्ज करती हैं। जब दलितों पर अत्याचार होता है तो उसका प्रभाव स्त्रियों पर भी पड़ता है। वह शोषण से मुक्ति के लिए व्यापक एकता की जरूरत को 'एक दुर्घटना और' कविता के द्वारा बताना चाहती हैं। वह लक्ष्मणपुर बाथे और शंकर बिगहा में हुई हत्याओं के बाद का चित्र प्रस्तुत करती हैं और समाज की असंवेदनशीलता को दिखाती हैं:

'एक स्त्री रो रही है बेतहाशा एक लाख के मुआवज़े पर
गाँव शांत है उड़ रही है धूल पुलिस के जूतों से
ठंडी झोपड़ियों के ठंडे जख्मों को छूने एक बाराती जत्था आया है
ठंडा लहू सूख चुका है राजनीति के गर्म बाज़ार में
लक्ष्मणपुर बाथे से शंकर बिगहा उतना दूर नहीं
जितना दूर है संवेदना से आदमी'[49]

स्त्री अस्मिता की कविताओं में उनके जीवन जगत से जुड़े ऐसे बिम्ब कविता में आते हैं जिनसे हिंदी कविता अब तक वंचित थी। वह ऐसे बिम्ब हैं जिन्हें केवल एक स्त्री ही अपनी कविता में उतार सकती है। अनामिका की कविता का ऐसा ही बिम्ब दृष्टव्य है:

‘दूध जब उतरता है पहले-पहले बेटा,

छातियों में माँ की-

झुरझुरी जगती है पूरे बदन में!

उस दूध का स्वाद अच्छा नहीं होता,

पर डॉक्टर कहते हैं-उसको चुभलाकर पी जाय बच्चा

तो सात प्रकोपों में भी जी जाय बच्चा!’[50]

गगन गिल स्त्रियों के जीवन की कैद, घुटन, अँधेरे, सीलन और उनकी मुक्ति की आकांक्षा को एक छोटी सी कविता के माध्यम से पूरी तरह पाठकों के सामने रूपायित कर देती हैं:

‘नजर के आगे एक दीवार है

दीवार के पीछे एक कुआँ है

कुएँ की सतह पर सीलन है

सीलन के नीचे गीली मिट्टी है

गीली मिट्टी में फँसी एक जड़ है

जड़ में एक सपना

आकार लेता है’[51]

आदिवासी अस्मिता की कविता में जो बिम्ब उभरते हैं वे प्रकृति से जुड़े हुए हैं। उनकी कविता में उनके तत्कालीन जीवन के संघर्ष दुःख, दर्द, विस्थापन की पीड़ा, वेदना बिम्ब के रूप में प्रतिबिंबित होती है।

उनकी कविता में उनके संघर्षशील इतिहास की स्मृति भी बिम्ब के रूप में अभिव्यक्त होती है। साथ ही श्रम से जुड़े बिम्ब भी उनकी कविता में साकार होते हैं। रणेंद्र की कविताओं में हम श्रम के यह बिम्ब देख सकते हैं। वह आदिवासी समाज में किस तरह श्रम को महत्त्व दिया जाता है, उसे व्यक्त करते हैं साथ ही वह श्रम के सौन्दर्य का पाठकों के सामने जो वर्णन करते हैं पाठक के समक्ष वह दृश्य जीवंत हो उठता है:

‘श्रम ने कसा था
जिनका अंग-अंग
धूप ने भरा था
जमुनी रंग,
रूप पर पसीने की लड़ियाँ
पारदर्शी मोतियों की
गहने की कड़ियाँ
पर सच है
सब पर भारी था
हाय! वह जामुनी रंग’[52]

आदिवासी कविताओं में उनके संघर्ष और और लड़ाइयों की स्मृतियों के बिम्ब भी आते हैं। अनुज लुगुन आदिवासी समाज पर थोपे गए युद्ध के बारे में बताते हैं। यह युद्ध अब आदिवासी समाज के जीवन का हिस्सा बन गया है। आदिवासी स्त्री-पुरुष रोज मारे जा रहे हैं। ऐसे में लड़ना उनकी जरूरत बन गया है, इस

लड़ाई को लड़ते रहने के लिए हौसले की भी जरूरत होती है। अनुज लुगुन अपनी कविता में उन्हें हौसला देते है और उनके संघर्ष के बिम्ब को अपनी कविता में उतारते हैं:

'ओ मेरी युद्धरत दोस्त!
तुम कभी हारना मत
हम लड़ते हुए मारे जायेंगे
उन जंगली पगडंडियों में
उन चौराहों में
उन घाटों में
जहाँ जीवन सबसे अधिक संभव होगा।'[53]

इस तरह हम पाते हैं कि हाशिए की अस्मिताओं से जुड़ी कविताओं में जो बिम्ब आते हैं वह उनके जीवन के सामाजिक यथार्थ से निर्मित हैं, जिनके द्वारा वह अपने शोषण का प्रतिकार कर अपने विद्रोह, संघर्ष और मुक्ति की आकांक्षा को प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त करते हैं।

मिथकों के विषय में विस्तृत चर्चा हम दूसरे अध्याय में कर चुके हैं यहाँ हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि हाशिए की अस्मिताओं की कविता में ये मिथक किस तरह और किस रूप में आते हैं।

अस्मितामूलक चिंतन नए मिथक स्थापित करता है। इन कविताओं में परम्परागत वर्चस्वादी मिथकों के स्थान पर अपने मिथकों को स्थापित किया गया है। दलित अस्मिता की कविता में तो मिथकों

का भरपूर इस्तेमाल हुआ है। दलित कवि अपने मिथकों की तलाश में इतिहास में अपनी अस्मिता को पहचानते हैं और अपने मिथकों के माध्यम से इतिहास में अपने ऊपर हुए शोषण को और उसके खिलाफ अपने संघर्षों को चिह्नित करते हैं तथा वर्तमान में उनसे ऊर्जा और संघर्ष की प्रेरणा हासिल करते हैं। स्थापित मिथकों के बरअक्स दलित कविता कर्ण, एकलव्य, शम्बूक आदि मिथकों को खड़ा करती है। कँवल भारती की कविता में हम शम्बूक के मिथक के प्रयोग को देख सकते हैं-

'शम्बूक
हम जानते है तुम इतिहास पुरुष नहीं हो
वरना कोई लिख देता
तुम्हें भी पूर्व जन्म का ब्राह्मण
स्वर्ग की कामना से
राम के हाथों मृत्यु का याचक।'[54]

दलित कवियों ने न केवल अपने मिथकों को ब्राह्मणवादी व्यवस्था के खिलाफ खड़ा किया है बल्कि इस व्यवस्था के मिथकों को भी ध्वस्त करने का कार्य भी किया है। असंगघोष अपनी कविता में ऐसे ही एक आधुनिक मिथक को तोड़ते हैं:

'गणेश!
तुमने दूध

क्या पीया

फासीवाद ने

मेरा दरवाजा

खटखटा दिया, और

घर में घुस आया

बताओ तो

अब तुम

क्या पीने जा रहे हो?[55]

स्त्री अस्मिता की कविता ने भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के प्रतीकों को ध्वस्त करने के लिए इतिहास में अपने प्रतीकों और मिथकों की तलाश की। स्त्री अस्मिता ने अपने को ब्राह्मणवादी प्रतीकों से अलग किया और अपने मिथकों से अपने को पुनः परिभाषित किया। स्त्री से हमेशा देवी और आदर्श नारी के मिथकों के जरिए त्याग, संयम और बलिदान की मूर्ति बनने की अपेक्षा की। परन्तु स्त्रियों ने अपने को इन पितृसत्तात्मक मिथकों से अलग किया और उन्होंने इतिहास में अपने मिथकों को ढूँढ़कर इस पितृसत्ता के खिलाफ खड़ा किया। स्त्री अस्मिता की कविताओं में गार्गी, अहिल्या, सीता, द्रौपदी आदि मिथकों का काफी प्रयोग हुआ है। इन्होंने इन मिथकों को नए अर्थों में परिभाषित किया है। और आधुनिक संदर्भों में अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया है। कात्यायनी की कविता गार्गी को आधुनिक सन्दर्भों में इस तरह अभिव्यक्त करती है:

‘मत जाओ गार्गी प्रश्नों की सीमा से आगे

तुम्हारा सिर कटकर लुढ़केगा ज़मीन पर,

मत करो याज्ञ्यवल्क्यों की अवमानना,

मत उठाओ प्रश्न ब्रह्मसत्ता पर,

वह पुरुष है!’[56]

ममता कालिया अपनी कविता में पितृसत्तात्मक समाज द्वारा स्त्री के लिए बना दिए गए मिथकों के षड्यंत्र को प्रस्तुत करती हैं कि कैसे यह पितृसत्तात्मक समाज स्त्रियों को विभिन्न तरीकों से बन्धनों में बांध कर रखता है। वह उनके विद्रोह की हर सम्भावना को समाप्त कर देता है। स्त्रियाँ भी इसी पितृसत्तात्मक समाज के मूल्यों को अपना लेती है और अपने बन्धनों को तोड़ने का प्रयास नहीं करती है। इसे ममता कालिया बड़ी खूबी से दर्शाती हैं:

‘तुमने मिथक में इतिहास मिलाया

उसमें धर्म का छौंक लगाया

और चूहा मार दवा सा मेरे गले के नीचे उतार दिया।

मैं जीने लगी वेद, पुराण और मनुस्मृति।

मुझे सीता सावित्री, उमा और अनुसूया की तरह बनना

अधिक भाया।

मैंने शकुंतला जितना जोखिम भी नहीं उठाया,

लक्ष्मीबाई को मैने चेतना से हकाल दिया।'[57]

आदिवासी कविता में अपनी संस्कृति और अपने मिथकों के प्रति मोह दिखाई देता है। आदिवासी कविता अपने पुरखों और नायकों को स्थापित करने पर ज्यादा बल देती है। आदिवासी समाज में ये पुरखे और नायक उनकी संस्कृति का हिस्सा हैं, उनमें बसे हुए हैं। यही उनके मिथक के रूप में स्थापित होते हैं। आदिवासी कविता में सबसे अधिक एकलव्य के मिथक का प्रयोग हुआ है। मिसाल के लिए अनुज लुगुन की कविता 'एकलव्य से संवाद' का यह अंश देखा जा सकता है:

'एकलव्य

अब जब भी तुम आना

तीर-धनुष के साथ ही आना

हां, किसी द्रोण को अपना गुरु न मानना

वह छल करता है

हमारे गुरु तो हैं

जंगल में बिचरते शेर, बाघ

हिरण, बरहा और वृक्षों के छाल

जिन पर निशाना साधते-साधते

हमारी सधी हुई कमान

किसी भी कुत्ते के मुंह में

सौ तीर भरकर

उसकी जुबान बंद कर सकती है।'[58]

आदिवासी कविता में उनके विद्रोह, संघर्ष और प्रतिरोध के प्रतीक बन चुके नायक बिरसा मुंडा और उनके आन्दोलन उल गुलान का बहुत प्रयोग हुआ है। मिसाल के लिए हम सुशीला टाकभौरे की कविता में इसे देख सकते हैं:

'उल गुलान! उल गुलान!!

गूंज रहा है ऐलान, उल गुलान!

शोषित आदिवासियों का नेता

लेकर तीर कमान

बदला लेने निकला था

बिरसा मुण्डा महान।'[59]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि मिथकों का प्रयोग अस्मिता की कविताओं में बखूबी हुआ है। यह मिथक उनके सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति बनकर उनकी कविताओं में आते हैं और वर्चस्वादी संरचनाओं पर चोट करते हैं। यह मिथक उनके जीवन को भी बखूबी व्यक्त करते हैं।

संदर्भ सूची

[1] नंदकिशोर नवल, *कविता की मुक्ति*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.13

[2] अजय तिवारी, *सौन्दर्यशास्त्र के प्रश्न*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015, पृ.74.

[3] डॉ. मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.15-16.

[4] टेरी ईगलटन, *मार्क्सवाद और साहित्यालोचन*, अनु. वैभव सिंह, आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा), 2013, पृ.40 पर उद्धृत.

[5] नंदकिशोर नवल, *कविता की मुक्ति*, पृ.9.

[6] अनामिका, *संवेद*, अक्टूबर 2009, पृ.5.

[7] क्रिस्टोफर कॉडवेल, *विभ्रम और यथार्थ*, पृ.172.

[8] अरुण कमल, *कविता और समय*, पृ.180.

[9] नामवर सिंह, *कविता के नए प्रतिमान*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007, पृ.98.

[10] नामवर सिंह, *कविता के नए प्रतिमान*, वही, पृ.97 पर उद्धृत.

[11] असंगघोष, 'चाहता हूँ...!' *खामोश नहीं हूँ मैं*, तीसरापक्ष प्रकाशन, 2001, पृ.56.

[12] ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'फिर भी ...!' *बस्स! बहुत हो चुका*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997, पृ.53-54.

[13] मोहनदास नैमिशराय, 'मेरे स्मृति दहन', *आग और आन्दोलन*, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ.83.

[14] कँवल भारती, 'जब तक व्यवस्था जीवित है', *तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?*, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, 1996, पृ.51.

[15] ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'कभी सोचा है', *बस्स! बहुत हो चुका*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997, पृ.51.

[16] कँवल भारती, 'बहिष्कार,' *तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?*, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, 1996, पृ.69.

[17] ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'दंगों के बाद', *बस्स! बहुत हो चुका*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997, पृ.67.

[18] ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'वे भयभीत हैं', *बस्स! बहुत हो चुका*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997, पृ.49.

[19] डॉ. शरण कुमार लिंबाले, *दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ.45.

[20] सुधा सिंह, *ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ*, ग्रन्थशिल्पी प्रकाशन, 2008, पृ.75.

[21] आनन्द पाण्डेय, 'भाषा और अस्मिता विमर्श', *nairachna*, 25 दिसंबर 2013, ऑनलाइन उपलब्ध http://nairachana.blogspot.in/2013/12/blog-post_25.html 04 जुलाई 2016 को देखा गया.

[22] रेखा कस्तवार, *स्त्री चिंतन की चुनौतियां*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ.20.

[23] अनामिका, 'वे भयभीत हैं', *कहती हैं औरतें*, साहित्य उपक्रम, इतिहास बोध प्रकाशन, 2007, पृ.149.

[24] सविता सिंह, 'मुक्ति', *अपने जैसा जीवन*, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2013, पृ.20.

[25] कात्यायनी, *दुर्ग द्वार पर दस्तक*, पृ.31.

[26] ममता कालिया, *खाँटी घरेलू औरतें*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2004, पृ.67.

[27] अनामिका, *खुरदुरी हथेलियाँ*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009, पृ.32.

[28] अनामिका, *कहती हैं औरतें*, इतिहासबोध प्रकाशन, 2007, पृ.23.

[29] सविता सिंह, 'मैं किसकी औरत हूँ', *अपने जैसा जीवन*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013, पृ.40.
[30] अनीता वर्मा, 'इस्तेमाल' *एक जन्म में सब*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृ.25.
[31] अनामिका, *कहती हैं औरतें*, इतिहासबोध प्रकाशन, 2007, पृ.26.
[32] ग्रेस कुजूर, 'एक और जनी शिकार', *समकालीन आदिवासी कविता*, (सं.) हरिराम मीणा, अलख प्रकाशन, 2013, पृ.18.
[33] भुजंग मेश्राम, 'ओ मेरे बिरसा', *समकालीन आदिवासी कविता*, (सं.) हरिराम मीणा, अलख प्रकाशन, 2013, पृ.33-34.
[34] सरिता बड़ाइक, 'भूले नहीं भुलाये', *नन्हें सपनों का सुख*, रमणिका फाउंडेशन, 2013, पृ.55-56.
[35] रणेंद्र, *थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ*, शिल्पायन, 2010, पृ.41.
[36] हरिराम मीणा, 'कैसे करोगे साबित', *आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी*, (सं.) रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009, पृ.29.
[37] कात्यायनी, *सात भाइयों के बीच चम्पा*, परिकल्पना प्रकाशन, 2008, पृ.16.
[38] सुमन केशरी, *मोनोलिसा की आंखें*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली-2013, पृ.63.
[39] अनामिका, 'गृहलक्ष्मी-7', *दूब-धान*, भारतीय ज्ञानपीठ, 2007, पृ.91.
[40] मोहनदास नैमिशराय, 'झाड़ू और कलम' ,*आग और आन्दोलन*, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ.72.
[41] असंगघोष, 'सुनो ब्राह्मण' *खामोश नहीं हूँ मैं*, तीसरा पक्ष प्रकाशन, 2001, पृ.51.
[42] सुशीला टाकभौरे, 'हमारे हिस्से का सूरज', *हमारे हिस्से का सूरज*, शरद प्रकाशन, नागपुर, 2005, पृ.9.
[43] डॉ. राम दयाल मुंडा, *आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी*, (सं.) रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009, पृ.42.
[44] महादेव टोप्पो, *आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी*, (सं.) रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009, पृ.47
[45] ग्रेस कुजूर, *आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी*, (सं.) रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009, पृ.26
[46] डॉ. केदारनाथ सिंह, *आधुनिक हिंदी कविता में बिम्बविधान*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2011, भूमिका से.
[47] ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'खेत उदास हैं', *बस्स! बहुत हो चुका*, वाणी प्रकाशन, 1997, पृ.24
[48] मलखान सिंह, 'मुझे गुस्सा आता है', *दलित: निर्वाचित कविताएं*, (संपा.) कंवल भारती, पृ.40-41.
[49] अनीता वर्मा, 'एक दुर्घटना और', *एक जन्म में सब*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृ.107.
[50] अनामिका, 'सत्रह बरस का प्रतियोगी परीक्षार्थी', *खुरदुरी हथेलियाँ*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2009, पृ.53.
[51] गगन गिल, 'नज़र के आगे एक दीवार है', *एक दिन लौटेगी लड़की*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2001, पृ.50.
[52] रणेंद्र, 'जामुनी रंग', *थोड़ा से स्त्री होना चाहता हूँ*, शिल्पायन, 2010, पृ.19.
[53] अनुज लुगुन, 'हमारी अर्थी शाही हो नहीं सकती', *समकालीन आदिवासी कविता*, (सं.) हरिराम मीणा, अलख प्रकाशन, 2013, पृ.17.
[54] कँवल भारती, 'शंबूक', *तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?*, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, 1996, पृ.47.
[55] असंगघोष, 'गणेश! बताओ तो', *खामोश नहीं हूँ मैं*, तीसरापक्ष प्रकाशन, 2001, पृ.14.

[56] कात्यायनी, 'गार्गी', *सात भाइयों के बीच चम्पा*, परिकल्पना प्रकाशन, 2008, पृ.34.

[57] ममता कालिया, *खाँटी घरेलू औरतें*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2004, पृ.88.

[58] अनुज लुगुन, 'एकलव्य से संवाद', *हिंदीसमय*, http://www.hindisamay.com/contentDetail.aspx?id=5516&pageno=1 पर उपलब्ध. 5 जुलाई 2015 को देखा गया.

[59] सुशीला टाकभौरे, *हमारे हिस्से का सूरज*, शरद प्रकाशन, नागपुर, 2005, पृ.83.

निष्कर्ष

हिंदी कविता में अस्मितामूलक चिंतन के सन्दर्भ में वस्तु और रूप के अंतरसंबंध को समझने के लिए यह अध्ययन मुख्यतः पांच अध्यायों में किया गया है। इस अध्ययन की समय सीमा 1990 से 2010 तक ली गई है तथा इस समय सीमा के अंतर्गत हिंदी कविता में आई स्त्री, दलित और आदिवासी, इन तीन प्रमुख अस्मिताओं की कविताओं और कवियों का अध्ययन किया गया है। इस शोध के अध्ययन में केवल उन कवियों और उनकी कविताओं को शामिल किया गया है जो अस्मितामूलक चिंतन की वैचारिकी से जुड़े रहे हैं और अस्मिता की कविता के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। इस अध्ययन में इन अस्मिताओं से जुड़ी कविताओं को वस्तु और रूप के सन्दर्भ में विश्लेषित किया गया है, जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकल कर आया है कि हिंदी कविता में अस्मितामूलक चिंतन 80 के दशक में उभर कर आते हैं तथा 90 के दशक में यह कविता में ही नहीं अपितु हिंदी साहित्य में मुख्य विमर्श का केंद्र बनते हैं। हिंदी साहित्य में जब अस्मितामूलक चिंतन और उससे जुड़ी कविता सामने आती है तो यह कविता के परम्परागत मानदंडों में परिवर्तन लाती है जिसके फलस्वरूप परम्परावादी आलोचना को यह चिंतन चुनौती देते हैं। इनसे अस्मिता के चिंतन और उनकी कविता की टकराहटें पैदा होती हैं। परम्परावादी आलोचक इन कविताओं को साधारण वस्तु और शिल्प का आरोप लगाकर ख़ारिज करते हैं और इन कविताओं पर कविता के सौन्दर्य और उसकी अनुभूति को नष्ट करने का आरोप लगाते हैं। परम्परावादी आलोचना,

अस्मिता के चिंतन से जुड़ी कविताओं को ख़ारिज करती रही परन्तु अस्मितामूलक चिंतन और इनकी कविताएं इनसे टकराते हुए और संघर्ष करते हुए स्वयं को स्थापित करती हैं। वह साहित्य और काव्य के परंपरागत सौन्दर्यबोध और उससे संबंधित मानदंडों को चुनौती देती हैं। अस्मितावादी चिंतन से जुड़ी कविता नए काव्य प्रतिमानों को रचती है और अपने मूल्यांकन के लिए परम्परागत प्रतिमानों को ख़ारिज करती हैं। अस्मिता, कविता को वस्तु और रूप दोनों स्तरों पर प्रभावित करती है और उनमें बदलाव लाती है। अस्मिता की कविता में जो काव्यवस्तु की निर्मिति होती है वह हिंदी कविता में पहली बार जगह पाती है। इसके पहले की कविताओं में इन अस्मिताओं की जो मौजूदगी रही है वह स्व की चेतना या स्व का भुगता हुआ सच नहीं रहा है बल्कि यह बाहर की संवेदना से अस्मिता को देखने की कोशिश रही है। अब वे खुद ही अपने जीवन को अभिव्यक्त कर रहे हैं। इस कविता में हाशिए के समाज के जीवन और उनसे जुड़ी विसंगतियां जगह पाती हैं। उनका दुःख, दर्द, पीड़ा, यातना, संघर्ष, प्रतिरोध उनकी कविता की वस्तु की निर्मिति करता है।

इन कविताओं ने कविता के रूप को इस हाशिए के समाज और उनके परिवेश को समावेश करने के अनुकूल बनाया है, जिससे इनकी कविताओं के शिल्प और रूप में भी परम्परागत कविता के शिल्प रूप की तुलना में बदलाव नज़र आता है। इसमें बदलाव आने का कारण यह भी रहा है कि कविता पर जो एकाधिकार था, वह टूटा। कविता के शास्त्रीय और परंपरागत ढांचे को इसने चुनौती दी और तोड़ा, जिससे

इस कविता के नए शिल्प के अंदर अस्मितावादी लेखक बड़ी संख्या में आए और जिन्होंने कविता की शास्त्रीयता को तोड़ा और कविताओं के वस्तु और शिल्प के संदर्भ में नई रचनाशीलता को पेश किया, जो पहले से भिन्न थी।

इस शोध अध्ययन के दौरान यह बात भी निकल कर आयी कि अस्मिता का मुद्दा मनुष्य के सामाजिक विकास से जुड़ा हुआ है, क्योंकि मनुष्य की अस्मिता का निर्धारण उसकी समाज में उपस्थिति से होता है। किसी व्यक्ति की अस्मिता वह है जिससे वह अपने को पहचानता है और अपनी उस पहचान को समाज द्वारा पहचाने जाने की वकालत करता है। अस्मिता एक आधुनिक समय का विचार है जो आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के दौरान सिद्धान्त के रूप में सामने आया है। आधुनिकता के साथ लोकतान्त्रिक मूल्य भी जुड़े हुए हैं, यह लोकतान्त्रिक मूल्य मनुष्य को समान अधिकार और समान सम्मान देने की वकालत करते हैं। इन आधुनिक लोकतान्त्रिक मूल्यों ने लोगों में समानता और आत्मसम्मान की धारणा को मजबूती प्रदान की तथा लोकतान्त्रिक चेतना भी विकसित किया। इस आधुनिक और लोकतान्त्रिक चेतना ने मनुष्य को न केवल एक निजी रूप में उसकी पहचान और अस्तित्व के लिए चेतनशील बनाया बल्कि अपनी एक सामूहिक पहचान और अस्तित्व के प्रति भी सजग बनाया।

जहां अस्मिता के विमर्श और उभार ने स्वयं के भीतर सामूहिकता का विकास किया, वहीं एक सामाजिक विघटन भी पैदा किया। इसने अपने समूह के साथ एक ऐतिहासिक जुड़ाव को स्थापित किया

तो उसे अन्य के बरअक्स खड़ा भी किया। इसी के साथ अन्य के भेद को भी पैदा करना इसके मूल में निहित है। यह अस्मितावादी चेतना 'हम' और 'अन्य' का बोध भी पैदा करती है।

अस्मिता मनुष्य की पहचान से जुड़ी होती है और मनुष्य की पहचान कई तरह से परिभाषित होती है। जब हम अस्मिता के साहित्येतर आयाम की बात करते हैं तो हम पाते हैं कि किसी व्यक्ति की अस्मिता का निर्धारण करने वाले कई कारक होते हैं और व्यक्ति अपनी अस्मिता को भी कई तरह से देखने और उसे व्याख्यायित करने का प्रयास करता है। ऐतिहासिक रूप से अस्मिताओं के उभार या अन्य के बरअक्स अपने को खड़ा करने के लिए विभिन्न अस्मिताएं अपने इतिहास की तलाश करती हैं इस रूप में अस्मिता के विमर्श का सवाल इतिहास के साथ जुड़ता है। अस्मिता ने खुद को स्थापित करने के लिए अपने इतिहास को खोजा और उसे स्थापित करने के लिए उन्होंने अपना इतिहास नए सिरे से खोजने के साथ उसे गढ़ने का भी प्रयास लगातार जारी रखे हुए है। ऐतिहासिक साक्ष्य अस्मिता विमर्श के लिए आधार उपलब्ध कराते हैं जिनसे वह अपने शोषण और संघर्ष की परंपरा की पहचान कर सकें। चूँकि ऐतिहासिक साक्ष्यों के अध्ययन के लिए भी ऐतिहासिक चेतना की आवश्यकता होती है। इसलिए आधुनिक समय में अपनी ऐतिहासिक चेतना के विकास के साथ अस्मिता विमर्शकारों ने अपने ऐतिहासिक साक्ष्यों का अध्ययन आरम्भ किया। इससे यह बात भी समझी जा सकती है कि आधुनिक चेतना और लोकतान्त्रिक मूल्यों की समझ से ही हाशिए पर मौजूद अस्मिताओं ने अपने इतिहास की

खोज आरम्भ की। अस्मिताएं अपने इतिहास को जितना ज्यादा मजबूत बनाती हैं अस्मिता उतनी ही मजबूत होती जाती है।

अध्ययन से यह भी पता चलता है कि अस्मिता को समझने में मिथकों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है। यह मिथक किसी अस्मिता को गढ़ने में एक जरूरी भूमिका का निर्वाह करते हैं। जहाँ शक्तिशाली अस्मिता अपनी शक्ति और इतिहास में अपनी ताकत को इन मिथकों से प्रदर्शित करती है वहीं यह दमित अस्मिताओं को दबाने के लिए भी मिथकों का निर्माण करती है, ताकि वह उन दमित अस्मिताओं पर अपना वर्चस्व कायम रख सकें। इसके विपरीत दमित अस्मिताएँ वर्चस्वशाली मिथकों का खंडन कर अपने नए मिथकों का निर्माण करती है, जिनमें वह अपने संघर्षों को दर्शाती हैं। यह मिथ निर्माण की प्रक्रिया भी किसी व्यक्ति की अस्मिता का निर्माण करते हैं। इसके अलावा राष्ट्र की अस्मिता भी किसी व्यक्ति विशेष की अस्मिता के बनने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। किसी राष्ट्र विशेष में किसी व्यक्ति विशेष को कैसे जाना जाता है, यह भी व्यक्ति की अस्मिता के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। साथ ही, राष्ट्र की स्वयं की अस्मिता का बनना भी अस्मिता निर्माण की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इसके अतिरिक्त धर्म, जाति और समाज भी अस्मिता के निर्धारण में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं क्योंकि कोई व्यक्ति सबसे पहले इन्ही तीनों रूपों के माध्यम से अपनी पहचान करता है।

यह अध्ययन इस बात की भी तलाश करता है कि अस्मितामूलक चिंतन के कवियों की काव्यदृष्टि की निर्मिति किस प्रकार होती है। हिंदी साहित्य और आलोचना में विभिन्न अस्मिताओं की अपेक्षित अभिव्यक्ति न होने के कारण इन अस्मिताओं से जुड़े साहित्यकारों ने स्वयं अपनी जिम्मेदारी को समझते हुए आगे आकर अपने जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति दी और यथासंभव उसकी सैद्धांतिकी को व्याख्यायित भी किया।

जो अस्मितामूलक चिंतन कविता में उभर कर आ रहे हैं, उनमें निर्मित हो रही संवेदना, उनके द्वारा सदियों से भोगी जा रही पीड़ा का ही परिणाम है। जब हम दलित कवियों की काव्य दृष्टि की बात करते हैं तो उनमें जातिवादी वर्णव्यवस्था का प्रतिकार दिखाई देता है, उनमें ब्राह्मणवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह दिखाई देता है। दलित कवि आलोचकों की काव्यदृष्टि मुक्ति की आकांक्षा से निर्मित है। दलित मुक्ति चेतना के विकास और फैलाव इसके मुख्य उद्देश्य हैं। इसके केन्द्रीय बिंदु के रूप में समतामूलक समाज की स्थापना है तथा आंबेडकर का जनतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था का स्वप्न है। इस काव्यदृष्टि में शोषण के सारे तंत्रों का प्रतिकार है। वर्चस्व बनाए रखने के सारे तंत्रों जैसे धर्म, सत्ता, बनावटी संस्कृति, आदि का विरोध है जो उत्पीड़न, अन्याय, शोषण, दमन तथा आर्थिक विषमता को बनाए रखते हैं।

स्त्री अस्मिता की बात करें तो हम पाते हैं कि उनकी कविता की काव्य दृष्टि पितृसत्ता के खिलाफ प्रतिरोध की चेतना से निर्मित है। उनमें मुक्ति की आकांक्षा के साथ अपने को मनुष्य के रूप में पहचाने

जाने का आग्रह है। साथ ही वह इस गैरबराबरी के समाज को ध्वस्त कर एक बराबरी के समाज की स्थापना के लिए प्रयासरत दिखाई देती हैं। उनकी कविताओं में स्त्री मन की संवेदनाएं जगह पाती हैं, वही उनकी काव्य दृष्टि का मूल है।

आदिवासी कविता की काव्य दृष्टि अपनी अस्मिता को बचाए रखने से बनी है। उनका बाहरी समाज से कोई व्यापक संवाद नहीं था और जो बाद में चलकर बना वह मुख्यत: लुटेरे और लुटने वाले का बना। उन्हें अपनी संस्कृति, अपनी भाषा सभी पर संकट नजर आ रहा है। उनकी पीड़ा साम्राज्यवादी लूट से उपजी है, जिसने उनके सामने जीवन जीने का संकट खड़ा कर दिया है। यही उनकी कविताओं में हमें दिखाई देता है। इसी से उनकी काव्य दृष्टि की निर्मिति होती है।

मुख्य रूप से यह शोध काव्यवस्तु और अस्मिता के संबंध को समझने का प्रयास करता है। अस्मितावादी चिंतन ने साहित्य के परंपरागत ढांचे में मूलभूत परिवर्तन किए हैं। इन विमर्शों ने साहित्य के बने-बनाए रूढ़ काव्यागत मानदंडों को ही नहीं बदला बल्कि इससे निर्मित काव्यदृष्टि ने काव्य के वस्तु पक्ष में भी बुनियादी बदलाव किए हैं। हम साहित्य में देखते हैं कि इस अस्मितामूलक काव्य में शोषण के जो दायरे हैं उनसे संघर्ष दिखाई देता है। स्त्री अस्मिता के काव्य में यह पितृसत्ता के खिलाफ प्रतिरोध के काव्य के रूप में दिखाई देता है तो दलित अस्मिता में सदियों से चली आ रही ब्राह्मणवादी वर्णव्यवस्था के जातिवादी ढांचे के खिलाफ नजर आता है। आदिवासी अस्मिता में यह साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और

विस्थापन के खिलाफ विद्रोह के रूप में दिखायी देता है। जब यह अस्मितामूलक चिंतन साहित्य में अपने को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं तो यह प्रतिरोध उनके साहित्य में भी सहज ही आता है। कविता में भी यह प्रतिरोध हमें दिखायी देता है और यह प्रतिरोध कविता की वस्तु को भी प्रभावित करता है। इसका कारण यह है कि अस्मितावादी लेखन के सरोकार व्यापक सामाजिक संदर्भों से जुड़े हुए हैं। इन सामाजिक सन्दर्भों से कवियों की जो काव्यदृष्टि निर्मित होती है वह कविता की अंतर्वस्तु को भी प्रभावित करती है। मोटे तौर पर अस्मिता आधारित कविता की अंतर्वस्तु उनके संघर्षों, उनकी पीड़ा, उनके संताप, समाज में बराबरी के मूल्यों की स्थापना, सभी तरह की गैर-बराबरी की समाप्ति, मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण के विरोध, पितृसत्ता, ब्राह्मणवाद, और साम्राज्यवाद से मुक्ति से निर्मित है। इस अस्मिता आधारित कविता की अंतर्वस्तु के रूप में एक बेहतर समाज के स्वप्न, उम्मीदें और आकांक्षाएं भी जगह पाते हैं।

यह अध्ययन अस्मिता के सन्दर्भ में काव्यवस्तु और रूप के अंतरसंबंध की तलाश करता है। साहित्यिक कृति एक ऐसी संरचना होती है जो वस्तु और रूप से मिलकर बनती है। लेखक वस्तु को रूप के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। किसी रचना में अभिव्यक्त होने वाले भाव और विचार किसी रचना का भीतरी पक्ष हैं, जो रचना की अंतर्वस्तु हैं। इसके विपरीत यह भाव और विचार जिस आकृति में भाषा, शैली, व शिल्प के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं वह रचना का बाहरी पक्ष, रूप होता है। कोई भी साहित्यिक कृति वस्तु और रूप के बिना नहीं हो सकती। किसी भी साहित्यिक कृति में वस्तु और रूप

दोनों होते हैं। वस्तु और रूप दोनों एक दूसरे में गुंथे होते हैं। कोई भी वस्तु रूप के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकती और ऐसा कोई रूप नहीं जिसमें वस्तु अंतर्निहित न हो। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व नहीं है। साहित्य और कला के क्षेत्र में वस्तु और रूप की एकता के सन्दर्भ में सभी विचारक सहमत हैं। परन्तु दोनों में कौन प्राथमिक है इस बात को लेकर हमेशा विवाद होता रहा है। दरअसल रूप और वस्तु का अंतरसंबंध द्वंद्वात्मक संबंध है। यह दोनों एक दूसरे से अविछिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। दोनों का एक दूसरे के बिना अस्तित्व नहीं है। परन्तु वस्तु अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह निरंतर गतिशील है और अपने अनुसार रूप का विकास करती है। जबकि रूप अपेक्षाकृत अधिक स्थिर है, उसमें वस्तु की अपेक्षा स्थायित्व अधिक होता है, वह जल्दी नहीं बदलता। परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि रूप की कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं है और उसकी उपेक्षा की जा सकती है। दरअसल रूप की साहित्य रचना में सक्रिय भूमिका होती है। कोई भी साहित्यकार अपनी वस्तु को साहित्य के किसी न किसी रूप में ही अभिव्यक्त करता है। अगर वह अपनी साहित्यिक वस्तु के लिए साहित्य के सही रूप का निर्धारण नहीं करेगा तो उसकी रचना प्रभावी नहीं होगी। अगर साहित्य में वस्तु के अनुरूप रूप का चयन होगा तो रूप वस्तु के विकास में सहायक होगा जिससे रचना अधिक प्रभावशाली होगी।

इस अध्ययन से इसका अंदाजा लगता है कि किस हद तक अस्मितामूलक चिंतन के काव्य में निहित अंतर्वस्तु काव्य के रूप पर भी प्रभाव डालती है। ये अस्मितामूलक चिंतन काव्य में एक नए तेवर

लेकर आए। इन्होंने हिंदी कविता की अंतर्वस्तु को ही नहीं बल्कि उसके परंपरागत रूप में भी परिवर्तन किया। कोई भी रचनाकार अपने परिवेश से जुड़ा होता है यह परिवेश ही है जो रचनाकार की चेतना की निर्मिति करता है और इसी चेतना की अभिव्यक्ति उसके काव्य में होती है। वह अपनी काव्य की वस्तु और रूप दोनों ही अपने परिवेश से ग्रहण करता है। रचनाकार की चेतना का निर्माण इसी समाज और परिवेश में होता है और यह चेतना कविता की अंतर्वस्तु में ही अभिव्यक्त नहीं होती बल्कि उसके शिल्प में भी उसकी अभिव्यक्ति होती है। दरअसल शिल्प भी अपने समय और समाज से जुड़ा हुआ होता है। अस्मिता आधारित कविता में हाशिए के समाज के जीवन की सच्चाइयाँ अभिव्यक्त होती हैं, इस कविता में उनके जीवन के दुःख-दर्द और पीड़ा को अभिव्यक्ति मिलती है। जिस कारण कविता की अंतर्वस्तु में बदलाव आता है। और यह अंतर्वस्तु कविता के रूप में भी अभिव्यक्त होती है। अस्मिता आधारित कविता में शिल्प के स्तर पर एक अनगढ़ता देखने को मिलती है। जिस कारण अस्मिता की कविताओं में साधारण जनमानस की पीड़ा का उसी की भाषा में, उसी की कलम से अभिव्यक्ति होना है। इस अनगढ़ता का भी अपना एक सौंदर्य है।

अस्मितामूलक कविता का कविता के शिल्प पर उतना जोर नहीं है जितना कविता की अंतर्वस्तु पर है। इसलिए इनकी कविताओं में शिल्प की अनगढ़ता दिखाई देती है, क्योंकि इस अस्मिता की कविता को लिखने वाले भी वही हाशिए के लोग रहे हैं जो ज्ञान की परंपरा में पीछे धकेल दिए गए थे, इसलिए

उनके यहाँ कविता के शिल्प को बरतने का अभ्यास नहीं दिखता है। परन्तु इन्होंने एक बड़ा काम यह किया कि यह कविता को हर स्तर पर आमजन मानस तक लेकर आए और इन्होंने कविता पर सदियों से चले आ रहे वर्चस्व को तोड़ा और अपनी दावेदारी पेश की। आज कविता लेखन के क्षेत्र में हाशिए के समाज की भागीदारी लगातार बढ़ रही है। इसलिए इनके कविता लेखन में कविता के सौंदर्यशास्त्र के परंपरागत मूल्यों का अभाव दिखता है। लेकिन यह आज अपने नए कविता के सौंदर्यशास्त्र को बना रहे हैं, इसलिए इनकी कविता का मूल्यांकन भी परंपरागत सौंदर्यशास्त्रीय के नियमों के अनुसार नहीं हो सकता। इन्होंने कविता के लिए अपनी नयी भाषा का निर्माण किया, यह कविता में अपने अलग मिथक और प्रतीक लेकर आए, कविता को नए बिम्ब प्रदान किए, जो इनके जीवन जगत से जुड़े हुए थे।

इन तीनों अस्मिताओं की कविताओं ने हिंदी कविता के रूप को गहराई तक प्रभावित किया है। इन कविताओं में व्यंग्य देखने को नहीं मिलता जो समकालीन कविता का मुख्य तत्व है। व्यंग्य विसंगतियों से उपजता है। इन तीनों अस्मिताओं के परिवेश में विसंगतियां भरी हुई हैं फिर भी इनमें व्यंग्य का अभाव देखने को मिलता है। जिसका एक कारण तो यह हो सकता है कि इन्होंने काव्यभाषा को विद्रोह के एक औजार के रूप में अपनाया जिसकी वजह से यहाँ व्यंग्य की बजाय भाषा से युद्ध में लड़ने के लिए औजार का काम लिया गया। दूसरा एक कारण यह हो सकता है कि व्यंग्य के लिए अपने जीवन की विसंगतियों पर विचार करने के लिए समय चाहिए, परन्तु इनका जीवन ही ऐसा है जिसमें समय का

अभाव है। यह श्रम से जुड़े हुए हैं इसलिए इनकी काव्यभाषा में श्रम से जुड़ी लयबद्धता तो देखने को मिलती है परन्तु व्यंग्य देखने को नहीं मिलता। व्यंग्य को यदि एक विधा के रूप में देखें तो विधाओं के ऐतिहासिक विकास में यह वह विधा है जो अपने जीवन की विपदाओं के बाद की अभिव्यक्ति है। व्यंग्य के लिए आवश्यक है कि आपको मूलभूत अधिकार मिल गए हैं और आपकी मूलभूत ज़रूरतें पूरी हो गई हैं तब आप एक स्तर तक आकर इस व्यंग्य की भाषा का प्रयोग करते हैं। परन्तु अस्मिताएं या हाशिए का समाज अभी अपनी मूलभूत ज़रूरतों और अधिकारों को पाने की ही लड़ाई लड़ रहा है इसलिए उनकी भाषा में व्यंग्य का आना अभी बहुत आगे की बात है।

साहित्य में ये अस्मिताएं अपने सवालों को लेकर आती हैं और अलग-अलग मोर्चों पर लड़ने का प्रयास करती हैं। अस्मितामूलक चिंतन 80 के दशक में उभर कर सामने आते हैं और 90 के दशक तक धीरे-धीरे पूरे साहित्य पर इसकी छाप दिखाई देने लगती है। और अस्मिता विमर्श इस दशक में साहित्य का मुख्य विमर्श बन जाता है। यह 90 का दशक भारत में नवउदारवाद की शुरुआत का भी दशक है। भारत में उदारीकरण की प्रक्रिया तेज होती है। भूमंडलीकरण जोर पकड़ता है। ऐसे में वैचारिक स्तर पर भी इस भूमंडलीकरण का प्रभाव देखने को मिलता है। साथ ही सांप्रदायिकता की राजनीति भी इस दशक में जोर पकड़ने लगती है। ऐसे में यह अस्मितामूलक चिंतन भी उत्तर आधुनिक विचारधारा के प्रभाव स्वरूप हिंदी साहित्य में उभरते हैं। अस्मिता के सन्दर्भ में हमें जो भी विरोधाभास दिखाई देते हैं उसका कारण यह

है कि अस्मिता के निर्माण में ही वह विरोधाभास है जिनका प्रतिफलन हमें उन द्वंद्वों में दिखाई देता है जो अस्मिता के साथ जुड़े हैं। जैसे कि निजी फायदे या व्यक्तिगत हित की बात, जो कि अस्मिता के चिंतन से निकल कर आती है। दरअसल अस्मिता के मूल में ही निज की पहचान को स्थापित करना है। जब यह स्वानुभूति की बात करती है तो यह स्वयं के अनुभव की बात कर रही होती है जोकि अन्य से अलग है। अपनी एक अलग अस्मिता के रूप में पहचान स्वयं को उस वृहद अस्मिता से अलग कर लेना है जिसमें सारे शोषित तबके एक हों, अस्मिता स्वयं को अलग से पहचाने जाने और अपने शोषण को भी अलग से दिखाने की पक्षधरता का ही नतीजा है। यह वर्ग के शोषण और वर्ग की एकता की जगह अपनी अस्मिता की एकता पर बल देती है। इसलिए यह अस्मिता के अन्दर ही निहित है कि स्वयं की अलग पहचान हो फिर यही अस्मिता व्यक्ति की निजी अस्मिता तक भी जाती है जिसमें उसे निजी मुक्ति का मार्ग दिखाई देता है और वह सत्ता के साथ जुड़ कर अपने निजी हित साधने लगता है। साथ ही अस्मिता के मजबूत होने से सत्ता के मजबूत होने में भी जो विरोधाभास दिखाई देता है, दरअसल वह भी अस्मिता में ही अंतर्निहित है क्योंकि अस्मिता का सारा विमर्श ही सत्ता में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करना और शक्ति में अपनी हिस्सेदारी चाहना है। इसलिए अस्मिता के विमर्श के पैरोकारों से यह उम्मीद करना बेमानी होगा कि वह सत्ता के साथ संघर्ष की स्थिति में जाएंगे। इसलिए सत्तापक्ष के लिए यह अस्मितामूलक विमर्श उनको बचाए रखने के लिए बहुत जरूरी है क्योंकि यह एक सामूहिक लड़ाई की संभावना को कमजोर करते हैं, साथ ही सामूहिक एकता बनने के लिए भी बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए यह सत्तापक्ष के लिए

बहुत फायदेमंद हैं। इस तरह, अस्मिता के विमर्श जहाँ सत्ता और शोषण के खिलाफ खड़े हुए थे या यह लगता था कि वह सामूहिक मुक्ति के मार्ग को आगे बढ़ाएंगे वह केवल एक भ्रम ही था।

साहित्य और समाज में अस्मितामूलक चिंतन का उभर कर आना कोई आकस्मिक घटना नहीं है। इसे सदियों से चले आ रहे शोषण और दमन के खिलाफ प्रतिरोध और संघर्ष के रूप में देखा जाना चाहिए। हाशिए की अस्मिताएं दुनिया भर में अपने शोषण के खिलाफ लगातार प्रतिरोध और संघर्ष कर रही हैं। इन प्रतिरोध और संघर्षों को एकजुट करने के प्रयास भी होते रहे हैं। क्योंकि जो शोषित अस्मिताएं है, वर्गीय दृष्टि से देखा जाए तो वही शोषित वर्ग भी है। लेकिन नवउदारवादी दौर में इस व्यापक एकजुटता के बनने की सारी संभावनाओं को समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है। उत्तर-आधुनिकतावाद इसमें एक मददगार विचारधारा है। इस उत्तर-आधुनिक चिंतन ने एक व्यापक एकजुटता की सम्भावना को समाप्त किया। इसने किसी भी महाआख्यान को नकारा, जो पूरी दुनिया की गतिकी को समझने का दावा करता है। इसने अलग-अलग उठ रहे संघर्षों को यह कहकर आधार प्रदान किया कि यह एकजुटता एक धोखा है। उसने दुनिया को समझने के वर्गीय आधार को, शोषक और शोषित की अस्मिता को नकारा और सामूहिक अस्मिता की जगह निजी अस्मिता और उसके संघर्षों को महत्त्व दिया। उत्तर-आधुनिक चिंतन से इन हाशिए की अस्मिताओं को वैचारिक आधार मिला। इसी कारण उन्हें उभरने के लिए उत्तर-आधुनिकता से बल मिलता है। यह हाशिए की अस्मिताएं अपने संघर्ष को अपनी अलग-अलग अस्मिता

के संघर्ष के रूप में पहचानती हैं। वह अपने शोषण को दूसरे से अलग करके देखती हैं। इसलिए उनकी लड़ाई भी अलग-अलग हो जाती है। इससे एक व्यापक एकजुटता की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है। इसलिए एक व्यापक अर्थ में यह अलग-अलग लड़ाइयाँ असल में इन पूंजीपति साम्राज्यवादी ताकतों को ही फायदा पहुंचाती हैं। परन्तु हमने अपने अध्ययन में देखा कि बेशक इन हाशिए की अस्मिताओं को उत्तर-आधुनिक चिंतन की वैचारिकी से अपनी अस्मिता की लड़ाइयों को अलग-अलग पहचानने और लड़ने के लिए बल मिला हो परन्तु वर्तमान में वह यह समझने लगी हैं कि एक व्यापक एकजुटता के बगैर और सामूहिक लड़ाई के बगैर जिसमें सबकी मुक्ति के सवाल शामिल हों किसी निजी अस्मिता की मुक्ति संभव नहीं है।

संदर्भ सूची

आधार ग्रंथ

अनामिका, *अनुष्टुप*, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998।

अनामिका, *खुरदुरी हथेलियाँ*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004।

अनामिका, *गलत पते की चिट्ठी*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004

अनामिका, *दूब-धान*, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2007।

अनामिका, बीजाक्षर, भूमिका प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993।

अनामिका, *समय के शहर में*, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1990।

अनिता वर्मा, *रोशनी के रास्ते पर*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008।

अनीता भारती, बजरंग बिहारी तिवारी (सं.), *यथास्थिति से टकराते हुए*, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, 2013।

अनीता वर्मा, *एक जन्म में सब*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003।

असंगघोष, *खामोश नहीं हूँ मैं*, तीसरापक्ष प्रकाशन, 2001।

असंगघोष, *हम गवाही देंगे*, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 2007।

ओमप्रकाश वाल्मीकि, *अब और नहीं*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009।

ओमप्रकाश वाल्मीकि, *बस्स! बहुत हो चुका*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997।

कँवल भारती (सं.), *दलित निर्वाचित कविताएं*, साहित्य उपक्रम प्रकाशन, दिल्ली, 2012।

कँवल भारती, *तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?*, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, 1996।

कात्यायनी, *इस पौरुषपूर्ण समय में*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999।

कात्यायनी, *जादू नहीं कविता*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002।

कात्यायनी, *फ़ुटपाथ पर कुर्सी*, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, 2006।

कात्यायनी, *सात भाइयों के बीच चंपा*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994।

गगन गिल, *एक दिन लौटेगी लड़की*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001।

जयप्रकाश कर्दम, *गूंगा नहीं था मैं*, हिंदी बुक सेंटर, दिल्ली, 2006।

निर्मला गर्ग, *कबाड़ी का तराजू*, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2003।

निर्मला गर्ग, *यह हरा गलीचा*, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, 2006।

निर्मला पुतुल, *अपने घर की तलाश में*, अनु. अशोक सिंह, रमणिका फाउंडेशन, दिल्ली, 2004।

निर्मला पुतुल, *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2005।

नीलेश रघुवंशी, *अंतिम पंक्ति में*, किताबघर, नई दिल्ली, 2008।

नीलेश रघुवंशी, *घर निकासी*, किताबघर, नई दिल्ली, 1997।

पवन करण, *कोट के बाज़ू पर बटन*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013।

पवन करण, *स्त्री मेरे भीतर*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012।

प्रा. दामोदर मोरे, *नीले शब्दों की छाया में*, सौरभ प्रकाशन, दिल्ली।

बद्रीनारायण, *शब्दपदीयम्*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004।

ममता कालिया, *खाँटी घरेलू औरत*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004।

मलखान सिंह सिसौदिया, *कुछ कहा, कुछ अनकहा*, समीक्षा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2007।

मोहनदास नैमिशराय, *आग और आंदोलन*, श्री नटराज प्रकाशन नई दिल्ली, 2013।

मोहनदास नैमिशराय, *समय सरोकार*, सितम्बर-अक्टूबर 2004।

रजनी तिलक, *पदचाप*, निधि बुक्स प्रकाशन, पटना, 2008।

रणेन्द्र, *थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूं*, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 2010।

सविता सिंह, *अपने जैसा जीवन*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013।

सविता सिंह, *नींद थी और रात थी*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005।

सविता सिंह, *स्वप्न समय*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013।

सुमन केशरी, *मोनोलिसा की आंखें*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2013।

सुशीला टाकभोरे, *यातना के स्वर*, शरद प्रकाशन, नागपुर, 2005।

सुशीला टाकभौरे, *मेरे काव्य संग्रह, यह तुम भी जानो, तुमने उसे कब पहचाना*, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2013।

सुशीला टाकभौरे, *हमारे हिस्से का सूरज*, शरद प्रकाशन, नागपुर, 2005।

हरिराम मीणा (सं.), *समकालीन आदिवासी कविता*, अलख प्रकाशन, जयपुर, 2013।

हरिराम मीणा, *सुबह के इंतजार में*, शिल्पायन, दिल्ली, 2006।

हरिराम मीणा, *हां, चांद मेरा है*, शिल्पायन, दिल्ली, 2000।

सहायक ग्रंथ

अंतोनियो ग्राम्शी, *सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार*, अनु. कृष्णकांत मिश्र, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2012।

अजय तिवारी, *सौन्दर्यशास्त्र के प्रश्न*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015।

अजय वर्मा, "मुक्ति का अस्मितावादी विमर्श और स्त्री", *जनमत*, मई 2002।

अनामिका, *स्वाधीनता का स्त्री पक्ष*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012।

अनुज लुगुन, (संपा.), *समय से संवाद: 6, आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध* में, अनन्य प्रकाशन, 2015।

अरुण कमल, *कथोपकथन*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009।

आनंद प्रकाश (सं.), *समकालीन लेखन में यथार्थवाद और जनवाद*, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, 2011।

आनंद प्रकाश, *समकालीन कविता प्रश्न और जिज्ञासाएँ*, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, 2011।

आशुतोष कुमार, *समकालीन कविता और मार्क्सवाद*, शिल्पायन, दिल्ली, 2010।

ई. एच. कार, *व्हाट इज हिस्ट्री*, पेंगुइन बुक्स, लंदन, 1964।

उमा चक्रवर्ती, *जाति समाज में पितृसत्ता*, अनु. विजय कुमार झा, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2011।

उमा शंकर चौधरी (संपा.), *हाशिये की वैचारिकी*, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, 2012।

ए. अरविन्दाक्षन, *समकालीन हिंदी कविता*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010।

एजाज़ अहमद, *साम्राज्य का दुःस्वप्न*, लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली, 2005।

एडवर्ड सईद, *वर्चस्व और प्रतिरोध*, अनु. रामकीर्ति शुक्ल, नई किताब प्रकाशन, दिल्ली, 2015।

एस.एन. मुखर्जी, *सर विलियम जोन्स: ए स्टडी इन एटीन्थ सेंचुरी ब्रिटिश एटीट्यूड्स टू इंडिया*, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1968।

एस.एल. दोषी, *आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत*, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2005।

ओमप्रकाश केजरीवाल, *एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल एंड द डिस्कवरी ऑफ इंडियाज़ पास्ट*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1988।

कँवल भारती, *दलित विमर्श की भूमिका*, साहित्य उपक्रम, 2012।

कँवल भारती, *दलित साहित्य की अवधारणा*, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, प्रथम संस्करण 2006।

किशन पटनायक, *विकल्पहीन नहीं है दुनिया*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001।

कुँवर नारायण, *अपने सामने*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003।

कुँवर नारायण, *इन दिनों*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014।

कुँवर नारायण, *शब्द और देशकाल*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013।

के. सच्चिदानन्दन, *भारतीय साहित्य, स्थापनाएं और प्रस्तावनाएं*, सं. अनामिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012।

के.एन.पणिक्कर, *औपनिवेशक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष*, अनु. आदित्य नारायण सिंह, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2009।

के.पी. जायसवाल, *हिंदू पॉलिटि : ए कॉन्सिटीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया इन हिंदू टाइम्स* (दूसरा खंड), हॉस्टिंग्स्ट, 1924।

केदारनाथ सिंह, *अकाल में सारस*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010।

केदारनाथ सिंह, *उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009।

केदारनाथ सिंह, *जमीन पक रही है*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014।

केदारनाथ सिंह, *तालस्ताय और साइकिल*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010।

केदारनाथ सिंह, *यहां से देखो*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999।

क्रिस्टोफर कॉडवेल, *विभ्रम और यथार्थ*, भगवान सिंह (अनु.), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990।

गणेश शंकर शर्मा, *विद्रोह की चिनगारियाँ*, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, 2003।

गिओर्गी प्लेखानोव, *कला के सामाजिक उद्गम*, अनु. विश्वनाथ मिश्र, राजकमल विश्व क्लासिक, नई दिल्ली, 2003।

गिरिजाकुमार माथुर, *नई कविताः सीमाएं और संभावनाएं*, नेशनल पब्लीशिंग हाउस, दिल्ली।

गोबिन्द प्रसाद, *केदारनाथ सिंह की कविता: बिम्ब से आख्यान तक*, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013।

चन्द्रकान्त पाटील, *साठोत्तरी मराठी कविताएं*, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2014।

चारु गुप्ता, *स्त्रीत्व से हिन्दुत्व तक*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012।

जगदीश्वर चतुर्वेदी, *सांप्रदायिकता: आतंकवाद और जनमाध्यम*, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, 2005।

जे.एफ. ल्योतार, 'द पोस्ट मॉडर्न कंडीशन: रिपोर्ट ऑन नॉलेज,' मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रैस, मैनचेस्टर, 1984।

ज्यॉर्जी दिमीत्रोव, *फासीवाद के खिलाफ जनमोर्चा*, समकालीन प्रकाशन, पटना, 2003।

टी. डब्ल्यू. एडर्नो, *संस्कृति उद्योग*, अनु. राम कवींद्र सिंह, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, 2006।

टेरी ईगलटन, *मार्क्सवाद और साहित्यालोचन*, अनु. वैभव सिंह, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2013।

डॉ. अमरनाथ, *हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012।

डॉ. कुसुम यदुलाल, *दलित शिक्षा का परिदृश्य*, कल्पज़ पब्लिकेशन, दिल्ली, 2006।

डॉ. केदारनाथ सिंह, *आधुनिक हिंदी कविता में बिम्ब विधान,* राधाकृष्ण प्रकाशन, 2011।

डॉ. नामवर सिंह, *छायावाद*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979।

डॉ. मैनेजर पाण्डेय, *साहित्य और इतिहास दृष्टि*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।

डॉ. रवीन्द्र श्रीवास्तव, भाषाई अस्मिता और हिंदी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2008।

डॉ. रामदयाल मुंडा, *आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल*, प्रकाशन संस्थान, 2002।

डॉ. रामनारायण शुक्ल, *जनवादी समझ और साहित्य*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1975।

डॉ. रामविलास शर्मा, *नयी कविता और अस्तित्ववाद*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993।

डॉ. रामविलास शर्मा, *मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1984।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, *समकालीन हिंदी साहित्यः विविध परिदृश्य*, राजकमल प्रकाशन, 2008।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन' व डॉ. देवेंद्र चौबे द्वारा संपादित *चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य*, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, 2010।

डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन', डॉ. देवेंद्र चौबे (संपा.), *चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य,* लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, 2010।

त्रिलोचन, *मेरा घर*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002।

दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे, *हाशिए का वृत्तांत*, आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा, 2011।

दूधनाथ सिंह, *तुम्हारे लिए*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014।

देवी शंकर नवीन एवं सुशांत कुमार मिश्र (सं.), *उत्तर-आधुनिकता : कुछ विचार* में , वाणी प्रकाशन, 2000।

देवेन्द्र इस्सर, *उत्तर-आधुनिकता: साहित्य और संस्कृति की नई सोच*, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, 1996।

नंदकिशोर नवल, *कविता की मुक्ति*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली,

नंदकिशोर नवल, *कविता पहचान का संकट*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006।

नंदकिशोर नवल, *समकालीन काव्य-यात्रा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014।

नंदकिशोर नवल, *हिन्दी कविता अभी, बिल्कुल अभी*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014।

नामवर सिंह, *इतिहास और आलोचना*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009।

नामवर सिंह, *कविता के नए प्रतिमान*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2007।

नेमिचंद्र जैन (सं.), *मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-5*, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1981।

न्गुगी वा थ्योंगो, *औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति: शिक्षा और संस्कृति की राजनीति,* सं. व अनु. आनंद स्वरूप वर्मा, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली, 1999।

न्गुगी वा थ्योंगो, *भाषा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता,* सं. व अनु. आनंद स्वरूप वर्मा, सारांश, दिल्ली, 1999।

परमानन्द श्रीवास्तव, *समकालीन कविता: नये प्रस्थान*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014।

परमानन्द श्रीवास्तव, *समकालीन कविता: सम्प्रेषण का संकट*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014।

पुरुषोत्तम अग्रवाल, *संस्कृति: वर्चस्व और प्रतिरोध*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009।

प्रभा खेतान, *बाज़ार के बीच: बाज़ार के खिलाफ, भूमण्डलीकरण और स्त्री के प्रश्न*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010।

प्रो. दिलीप सिंह (सं.), *भाषा, संस्कृति और लोक*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012।

फ्रेडेरिक एंगेल्स, *परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति,* प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1986।

बच्चन सिंह, *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास,* राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2002।

बद्रीनारायण, *दलित वीरांगनाएँ एवं मुक्ति की चाह,* अनु. युगांक धीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014।

बद्रीनारायण, *प्रतिरोध की संस्कृति,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012।

बद्रीनारायण, *लोकसंस्कृति में राष्ट्रवाद,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011।

बिपन चंद्र, *समकालीन भारत,* अनु. प्रो. ब्रजकिशोर अंशुमाली, डॉ. द्वारिका प्रसाद 'चारुमित्र', अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, 2011।

मंगलेश डबराल, *कवि का अकेलापन,* राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008।

ममता कालिया, *कितने प्रश्न करूं,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011।

मलय, *निबंधों की दुनिया,* सं. रामेश्वर राय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012।

महादेवी वर्मा, *श्रृंखला की कड़ियाँ,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999।

माता प्रसाद (सं.), *हिंदी काव्य में दलित काव्यधारा,* सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008।

माताप्रसाद, *दलित साहित्य दशा और दिशा,* भारतीय दलित साहित्य अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003।

मैनेजर पाण्डेय, *भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013।

मैनेजर पाण्डेय, *संवाद परिसंवाद,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013।

मैनेजर पाण्डेय, *हिंदी कविता का अतीत और वर्तमान*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013।

रमणिका गुप्ता (सं.), *आदिवासी साहित्य यात्रा*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012।

रमणिका गुप्ता (सं.), *आदिवासी स्वर और नई शताब्दी*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009।

रमणिका गुप्ता (सं.), *आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008।

रमणिका गुप्ता, अनीता वर्मा (सं.), *हाशिए उलांघती औरत : कहानी*, नेहा प्रकाशन, दिल्ली, 2015।

रमणिका गुप्ता, *स्त्री-विमर्श : कलम और कुदाल के बहाने*, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008।

रमेशचंद मीणा, *आदिवासी दस्तक: विचार, परंपरा और साहित्य*, अलख प्रकाशन, दिल्ली, 2013।

राजाराम भादू, *धर्मसत्ता और प्रतिरोध की संस्कृति*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003।

राजेश जोशी, *एक कवि की नोटबुक: समकालीनता और साहित्य*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010।

राधावल्लभ त्रिपाठी, *नया साहित्य नया साहित्यशास्त्र*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012।

रामविलास शर्मा, *भारत की भाषा समस्या*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014।

रामविलास शर्मा, *भाषा और समाज*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014।

रामशरण जोशी, *आदमी, बैल और सपने*, कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली, 2008।

रामशरण जोशी, *इक्कीसवीं सदी के संकट*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003।

रामस्वरूप चतुर्वेदी, *काव्य भाषा पर तीन निबंध*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008।

रामस्वरूप चतुर्वेदी, *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011।

रेखा कस्तवार, *स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013।

रोमिला थापर, *आर्य, मिथक और यथार्थ*, सहमत, नई दिल्ली, 1995।

लवली गोस्वामी, *प्राचीन भारत में मातृसत्ता और यौनिकता*, दखल प्रकाशन, दिल्ली, 2015।

वाल्टर बेंजामिन, *उपरांत*, अनु. इंदुप्रकाश कानूनगो, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2001।

विजय कुमार, *अंधेरे समय में विचार*, संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2006।

विजय कुमार, *कविता की संगत*, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2012।

विमल थोरात, *दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर*, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, 2010।

वीर भारत तलवार, *झारखंडी आदिवासियों के बीच: एक एक्टिविस्ट के नोट्स*, भारतीय ज्ञानपीठ, 2008।

शरण कुमार लिंबाले, *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*, अनु. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन दिल्ली, 2010।

श्यामचरण दुबे, *परंपरा, इतिहासबोध और संस्कृति*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992।

श्यामचरण दुबे, *समय और संस्कृति*, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2005।

श्यामसुन्दर दूबे, *संस्कृति, समाज और संवेदना*, ग्रंथलोक प्रकाशन, दिल्ली, 2004।

श्यामाचरण दुबे, *परंपरा इतिहास-बोध और संस्कृति*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', *साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया*, सं. कृष्णदत्त पालीवाल, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010।

सत्यप्रकाश मिश्र (संपा.), *बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998।

सुधा सिंह, *ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ*, ग्रन्थशिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008।

सुधीर रंजन सिंह, *हिन्दी समुदाय और राष्ट्रवाद*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली,2009।

सुधीश पचौरी, *उत्तर-आधुनिक साहित्य-विमर्श*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996।

अंग्रेजी सहायक ग्रंथ

B.R. Ambedkar, *Annihilation of Caste*, Navayana, New Delhi, 2014.

Critical Exchange, Spring 1985, No.18. Ohio.

EPW, vol.37, issue no. 42, October 19, 2002.

Erik Erikson, Dimensions of New Identity, New Delhi, Light and life publishers, 1975.

Erik h Erikson, The problems of Ego Identity and Anxiety, ed. Arthur vidich stein and David white, NewYork, The Free Press 1960.

G.P. Deshpande (ed.), *Selected Writings of Jotirao Phule*, LeftWord Books, 2002.

Hogg. Michael and Dominic Abraham (1988), Social Identification: A Social Psychology of Intergroup Relations and Group Process, London Routledge

Jenkins, Richard, *Social Identity*, London: Routledge, 1996.

John A. Hobson, Imperialism: A Study, Spokesman Books, 2011.

Katzenstein, peter, ed. (1996)The Culture of National Security: Norms and Identity in world Politics, New York: Columbia University Press.

पत्र-पत्रिकाएं

आलोचना त्रैमासिक, सं. अपूर्वानंद, चौवन, अप्रैल-जून 2015।

आलोचना त्रैमासिक, सं. अरुण कमल, चवालीस, जनवरी-मार्च, 2012।

आलोचना त्रैमासिक, सं. अरुण कमल, सैंतालीस, अक्तूबर-दिसंबर 2012।

आलोचना त्रैमासिक, सं. परमानन्द श्रीवास्तव, दस-ग्यारह, जुलाई-दिसंबर, 2002।

इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी 1997।

कथादेश, सं. हरिनारायण, फरवरी, 2003।

तद्भव, सं. अखिलेश, वर्ष 2, अंक 2, अप्रैल 2014।

दलित वार्षिकी , सं. जयप्रकाश कर्दम, वर्ष 2009, साहित्य संस्थान प्रकाशन, गाजियाबाद।

पक्षधर, सं. विनोद तिवारी, वर्ष 5, अंक 1, जन.-जून 2011।

वागर्थ, सं. एकांत श्रीवास्तव और कुसुम खेमानी, दिसंबर, 2012।

शुक्रवार साहित्य वार्षिकी, सं. विष्णु नागर, 2013।

संवेद, सं. किशन कालजयी, अक्टूबर 2009।

समकालीन जनमत, सं. सुधीर सुमन, प्रणय कृष्ण, वर्ष 26, अंक-3।

समयांतर, सं. पंकज बिष्ट, फरवरी, 2014।

समसामयिक सृजन, जुलाई-सितम्बर, 2012।

हंस, सं. राजेंद्र यादव, जनवरी, 2002; मार्च, 2005; मार्च 2001।

वेबसाइट

कविता कोश (http://kavitakosh.org)

हिंदी समय (http://www.hindisamay.com/)

जनपथ (*http://www.junputh.com/*)

नेशनल दस्तक (http://www.nationaldastak.com)

रागिनी सिन्हा (http://sinharagini12.blogspot.in)

नई रचना (http://nairachana.blogspot.in/)